॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [६]

अध्यात्मसार

[गाथा और अर्थ]

-: कर्ता :-

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा

-: अनुवादकर्ता :-

पू. पदमविजयजी म.सा.

-: संकलन :-

श्रुतोपासक

-: प्रकाशक :-

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अहमदाबाद-३८०००५

फोन : २२१३२५४३, ९४२६५८५९०४

E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
प्रकाशन : संवत २०७४,

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभंडार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
२० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं ।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद काईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-380002
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02, शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901, गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-12.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभंडार,
चंदनबाला भवन, 129, शाहुकर पेठ पासे, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-1.
(मो.) 9381096009, 044-23463107

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
7/8, वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : **किरीट ग्राफिक्स**, अहमदाबाद (मो.) ९८९८४९००९१

अध्यात्मसार

अधिकार पहला

—: अध्यात्म का माहात्म्य :—

ऐन्द्रश्रेणिनतः श्रीमान्नन्दतान्नाभिनन्दनः ।
उद्दधार युगादौ यो जगदज्ञानपङ्कतः ॥१॥

भावार्थ : जिन्होंने युग के प्रारम्भ में अज्ञानरूप कीचड़ से जगत् को उबारा है; अर्थात् सूर्य के समान जिन्होंने अपने ज्ञान के प्रकाश से जगत् के अज्ञानान्धकार को मिटाया है; वे इन्द्रसमूह द्वारा नमस्कृत श्रीनाभिनन्दन ऋषभदेव भगवान् (मुझ पर) आनन्दित (प्रसन्न) हों ॥१॥

श्री शान्तिस्तान्तिभिद् भूयाद् भविनां मृगलांछनः ।
गावः कुवलयोल्लासं कुर्वते यस्य निर्मलाः ॥२॥

भावार्थ : जिनकी निर्मलवाणी सूर्यकिरणों की तरह भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करती है, वे मृगलांछन श्रीशान्तिनाथ भगवान् भव्यजीवों के दुःखों का अन्त करें ॥२॥

श्री शैवेयं जिनं स्तौमि भुवनं यशसेव यः ।
मारुतेन मुखोत्थेन पांचजन्यमपूपुरत् ॥३॥

भावार्थ : जिन्होंने अपने मुख से निःसृत वायु से पांचजन्य नामक शंख को इस प्रकार फूंका, मानो अपने उज्ज्वल यश से तीनों लोक परिपूर्ण कर दिये हों; उन शिवादेवी के नन्दन श्रीनेमिनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥३॥

जीयात् फणिफणप्रांत-संक्रांततनुरेकदा ।
उद्धर्तुमिव विश्वानि श्रीपार्श्वो बहुरूपभाक् ॥४॥

भावार्थ : किसी समय सर्प के फन के सिरे पर जिनके शरीर का पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था, मानो तीनों जगत् का उद्धार करने के लिए अनेकरूप धारण किये हों; उन पार्श्वनाथ प्रभु की जय हो ॥४॥

जगदानन्दनः स्वामी जयति ज्ञातनन्दनः ।
उपजीवन्ति यद्वाचमद्यापि विबुधाः सुधाम् ॥५॥

भावार्थ : जिनके वचनामृत का आस्वादन करके पण्डितजन आज भी अपना जीवन सफल बना रहे हैं; उन जगत् को आनन्द देने वाले ज्ञातपुत्र श्री वर्धमानस्वामी की विजय हो ॥५॥

एतानन्यानपि जिनान्नमस्कृत्य गुरुनपि ।
अध्यात्मसारमधुना प्रकटीकर्तुमुत्सहे ॥६॥

भावार्थ : इन पाँच तीर्थंकरों तथा अन्य अजितनाथ आदि २२ तीर्थंकर भगवन्तों एवं गुरुदेवों को नमस्कार करके अध्यात्मसार अर्थात् अध्यात्म का निचोड़ प्रकट करने के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥६॥

शास्त्रात् परिचितां सम्यक् संप्रदायाच्च धीमतां ।
इहानुभवयोगाच्च प्रक्रियां कामपि ब्रुवे ॥७॥

भावार्थ : इस विषय में शास्त्रों से, तत्वज्ञानी महापुरुषों की सत्य परम्परा से तथा स्वानुभव के योग से भलीभांति परिचित (अध्यात्मसम्बन्धी) किसी अनिवर्चनीय प्रक्रिया का निरुपण करुँगा ॥७॥

योगिनां प्रीतये पद्यमध्यात्मरसपेशलं ।
भोगिनां भामिनीगीतं संगीतकमयं यथा ॥८॥

भावार्थ : जैसे भोगीजनों को ललनाओं के संगीतमय गायन प्रीतिकर होते हैं, वैसे ही योगीजनों को अध्यात्मरस के मनोहर पद्य प्रीतिकारक होते हैं ॥८॥

कान्ताधरसुधास्वादाद् यूनां यज्जायते सुखम् ।
बिन्दुः पार्श्वे तदध्यात्मशास्त्रस्वादसुखोदधेः ॥९॥

भावार्थ : स्त्रियों के अधरामृत के आस्वादन से युवकों को जो सुखद संवेदन होता है, वह अध्यात्म-शास्त्र के आस्वादनजनित सुखसिन्धु के सामने एक बिन्दु के समान है ॥९॥

अध्यात्म-शास्त्रसम्भूत-संतोष-सुखशालिनः ।
गणयन्ति न राजानं न श्रीदं नापि वासवम् ॥१०॥

भावार्थ : अध्यात्मशास्त्र के आस्वादन से उत्पन्न सन्तोषसुख से सुशोभित योगीजन अपने सुख के सामने राजा, कुबेर, इन्द्र आदि के सुखों को कुछ भी नहीं गिनते ॥१०॥

यः किलाशिक्षिताध्यात्मशास्त्रः पाण्डित्यमिच्छति ।
उत्क्षिपत्यंगुलीं पंगुः स स्वर्द्रुफललिप्सया ॥११॥

भावार्थ : जो मनुष्य अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन किये बिना ही विद्वत्ता-पाण्डित्य चाहता है, वह उस पंगु के समान है, जो कल्पवृक्ष के फल लेने की इच्छा से उंगली ऊँची करता है ॥११॥

दंभपर्वतदंभोलिः सौहार्दाम्बुधिचन्द्रमाः ।
अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल-मोहजालवनानलः ॥१२॥

भावार्थ : अध्यात्मशास्त्र दंभ (कपट) रूपी पर्वत को चकनाचूर करने में वज्र के समान है, समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभावरूपी समुद्र की तरंगों को बढ़ाने में चन्द्रमा के समान है और विकट महामोहजालरूपी वन को जलाने में दावानल के समान है ॥१२॥

अध्वा धर्मस्य सुस्थः स्यात्पापचौरः पलायते ।
अध्यात्मशास्त्र-सौराज्ये न स्यात्कश्चिदुपप्लवः ॥१३॥

भावार्थ : अध्यात्मशास्त्ररूपी सुराज्य प्राप्त होने पर धर्म का मार्ग सरल हो जाता है, पापरूपी चोर भाग जाता है तथा किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता है ॥१३॥

येषामध्यात्मशास्त्रार्थतत्त्वं परिणतं हृदि ।
कषाय-विषयावेश-क्लेशस्तेषां न कर्हिचित् ॥१४॥

भावार्थ : जिनके हृदय में आध्यात्मशास्त्र के भावार्थ का तत्व (रहस्य) पच (परिणत हो) गया है, उन्हें कभी क्रोधादि कषायों का क्लेश (परिताप) नहीं होता। क्योंकि वे अपने मन और इन्द्रियों को अपने काबू में रखते हैं ॥१४॥

निर्दयः कामचाण्डालः पण्डितानपि पीडयेत् ।
यदि नाध्यात्मशास्त्रार्थबोध-योधकृपा भवेत् ॥१५॥

भावार्थ : यदि अध्यात्मशास्त्र के अर्थबोध-रूपी योद्धा की सहानुभूति (कृपा) न हो तो निर्दय काम-चांडाल पंडितजनों को भी पीड़ित कर देता है। अर्थात् न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों के पण्डित भी बालचेष्टा के समान कामक्रीड़ा करते देखे जाते हैं, तो फिर मामूली आदमियों की तो बात ही क्या? ॥१५॥

विषवल्लिसमां तृष्णां वर्धमानां मनोवने ।
अध्यात्मशास्त्रदात्रेण छिन्दन्ति परमर्षयः ॥१६॥

भावार्थ : परमऋषिराज अध्यात्मशास्त्ररूपी हंसिये से मनरूपी वन में विषलता के समान बढ़ती हुई तृष्णा का छेदन कर देते हैं ॥१६॥

वने वेश्म धनं दौस्थ्ये तेजो ध्वान्ते जलं मरौ ।
दुरापमाप्यते धन्यैः कलावध्यात्मवाङ्मयम् ॥१७॥

भावार्थ : जैसे वन में घर, निर्धनता में धन, अन्धकार में दीपक और मरुभूमि में जल की प्राप्ति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस कलियुग में अध्यात्मशास्त्र की प्राप्ति दुर्लभ है, वह किसी विरले ही भाग्यशाली को मिलता है ॥१७॥

वेदाऽन्यशास्त्रवित् क्लेशं रसमध्यात्मशास्त्रवित् ।
भाग्यभृद् भोगमाप्नोति वहते चंदनं खरः ॥१८॥

भावार्थ : वेद आदि अन्य शास्त्रों का ज्ञाता क्लेश का ही अनुभव करता है, जबकि अध्यात्मशास्त्र का ज्ञाता अनुभव-रसामृत का आस्वादन करता है। जैसे गधा तो केवल चन्दन के भार को ही ढोता रहता है, भाग्यशाली पुरुष ही उस चन्दन का उपयोग करता है ॥१८॥

भुजास्फालन-हस्तास्य-विकाराभिनयाः परे ।
अध्यात्मशास्त्रविज्ञास्तु वदन्त्यविकृतेक्षणाः ॥१९॥

भावार्थ : अन्य शास्त्रों के ज्ञाता जब उपदेश=भाषण देते हैं, तब भुजाएँ जोर से फटकारते हैं तथा मुँह आदि की विकृत चेष्टाओं द्वारा अभिनय करते हैं, परन्तु अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता अन्य अंगों को विकृत करना तो दूर रहा, आँखों को भी मटकाए बिना स्वाभाविक रूप से बोलते हैं ॥१९॥

अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि-मथितादागमोदधेः ।
भूयांसि गुणरत्नानि प्राप्यते विबुधैर्न किम् ? ॥२०॥

भावार्थ : क्या अध्यात्म-शास्त्ररूपी मेरुपर्वत से आगम-समुद्र का मंथन करके विद्वान् अनेक गुणरूपी रत्नों को नहीं पाते हैं? अवश्य पाते हैं ॥२०॥

रसो भोगावधिः कामे सद्भक्ष्ये भोजनावधिः ।
अध्यात्मशास्त्र-सेवायामसौ निरवधिः पुनः ॥२१॥

भावार्थ : कामविषयक रस सम्भोग के समय तक रहता है, स्वादिष्ट आहार का स्वाद भोजन करते समय ही रहता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र का सेवन करने पर जो रस मिलता है, उसके स्थायित्व की तो सीमा ही नहीं है ॥२१॥

कुतर्कग्रन्थ - सर्वस्व - गर्वज्वरविकारिणी ।
एति दृग् निर्मलीभावमध्यात्मग्रन्थभेषजात् ॥२२॥

भावार्थ : कुतर्क-ग्रन्थों के अधिकारपूर्वक ज्ञान से तो प्रायः अहंकाररूपी ज्वर से दृष्टि विकारी हो जाती है, जबकि अध्यात्म-ग्रन्थरूपी औषध से दृष्टि निर्मल होती है । अध्यात्मशास्त्र से दृष्टि में शोधकत्व गुण प्रगट होता है, इसके अभ्यास से निर्विकारत्व प्राप्त होता है, जिससे अभिमानरूपी ज्वर शान्त हो जाता है । इसलिए यह अध्यात्मशास्त्र औषधरूप है ॥२२॥

धनिनांपुत्रदारादि यथा संसारवृद्धये ।
तथा पाण्डित्यदृप्तानां शास्त्रमध्यात्मवर्जितम् ॥२३॥

भावार्थ : जैसे धनिकों के लिए स्त्री–पुत्र–परिवार आदि संसारवृद्धि के लिए होते हैं, उसी प्रकार विद्वत्ता के अभिमानी लोगों के लिए अध्यात्मशून्य अन्य शास्त्र भी संसारवृद्धि के कारण होते हैं ॥२३॥

अध्येतव्यं तदध्यात्मशास्त्रं भाव्यं पुनः पुनः ।
अनुष्ठेयस्तदर्थश्च देयो योग्यस्य कस्यचित् ॥२४॥

भावार्थ : इसलिए मुमुक्षु आत्मा को अध्यात्म–शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, बार–बार उसका चिन्तन–मनन करना चाहिए, उसके परमार्थ को हृदयंगम करना चाहिए, उसमें बताए हुए व्यवहारों का आचरण करना चाहिए, और कोई योग्य जिज्ञासु व्यक्ति मिल जाए तो उसे परमार्थ समझाना चाहिए ॥२४॥

॥ इत्यध्यात्मसार–माहात्म्याधिकारः १ ॥

• • •

अधिकार दूसरा

अध्यात्मका स्वरूप

भगवन् ! किं तदध्यात्मं यदित्थमुपवर्ण्यते ।
श्रृणु, वत्स ! यथाशास्त्र वर्णयामि पुरस्तव ॥१॥

भावार्थ : 'भगवन् ! जिसके माहात्म्य का आपने वर्णन किया है, वह अध्यात्म क्या है ?'' इस प्रकार शिष्य के प्रश्न करने पर गुरुदेव उसका उत्तर देते हैं-'वत्स ! शास्त्र में कहे अनुसार मैं तुम्हारे सामने अध्यात्म का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो' ॥१॥

गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या ।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥२॥

भावार्थ : जिनके मोह का सामर्थ्य नष्ट हो गया है, उनके द्वारा आत्मा को लक्ष्य करके जो शुद्ध (निर्दोष) क्रिया की जाती है, जिनेश्वरों ने उसे ही अध्यात्म कहा है ॥२॥

सामायिकं यथा सर्वचारित्रेष्वनुवृत्तिमत् ।
अध्यात्मं सर्वयोगेषु तथानुगतमिष्यते ॥३॥

भावार्थ : जैसे सभी प्रकार के चारित्रों में सामायिक सहचारी है, वैसे ही समस्त योगों में अध्यात्म का सहगामी होना अभीप्सित है ॥३॥

अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम् ।
क्रमशुद्धिमती तावत् क्रियाध्यात्ममयी मता ॥४॥

भावार्थ : अपुनर्बन्धक नामक चौथे गुणस्थानक से लेकर चौदहवें गुणस्थानक तक क्रमशः जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्ध क्रिया होती है, वह सब क्रिया अध्यात्ममयी ही मानी जाती है ॥४॥

आहारोपधिपूजर्द्धि-गौरवप्रतिबन्धतः ।
भवाभिनंदी यां कुर्यात् क्रियां साध्यात्मवैरिणी ॥ ५॥

भावार्थ : आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि एवं गौरव (प्रसिद्धि आदि) के प्रतिबन्ध से (प्राप्ति की इच्छा को लेकर) भवाभिनंदी जो क्रियाएँ करता है, वे सारी क्रियाएँ अध्यात्म की वैरिणी कहलाती हैं ॥५॥

क्षुद्रोलोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनंदी स्यात् निष्फलारम्भसंगतः ॥६॥

भावार्थ : क्षुद्र, लोभी, दीन, ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ, अज्ञानी और अकारण पापारम्भ करने वाला जीव भवाभिनन्दी होता है ॥६॥

शान्तो दान्तः सदा गुप्तो मोक्षार्थो विश्ववत्सलः ।
निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात् साध्यात्मगुणवृद्धये ॥७॥

भावार्थ : शान्त, दान्त, सदा गुप्तेन्द्रिय, विश्व के प्रति वत्सल, मोक्षार्थी, साधक जो भी दम्भरहित क्रियाएँ करता है, वे आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि के लिए होती हैं ॥७॥

अतएव जनः पृच्छोत्पन्नसंज्ञः पिपृच्छिषुः ।
साधुपार्श्वे जिगमिषुर्धर्मं पृच्छन् क्रियास्थितः ॥८॥

प्रतिपित्सुः सृजन् पूर्वं प्रतिपन्नश्च दर्शनं ।
श्राद्धो यतिश्च त्रिविधोऽनन्तांशक्षपकस्तथा ॥९॥

दृग्मोहक्षपको मोहशमकः शान्तमोहकः ।
क्षपकः क्षीणमोहश्च जिनोऽयोगी च केवली ॥१०॥

भावार्थ : इसी कारण प्रश्न पूछने की बुद्धिवाला भव्यप्राणी, प्रश्न पूछने का इच्छुक, साधुसन्तों के पास जाने का इच्छुक, धर्मजिज्ञासु, धर्मप्राप्ति का अभिलाषी, पूर्वप्राप्तदर्शन का सृजन-सम्पादनकर्ता (सम्यक्त्व नामक प्रथम गुणश्रेणी), श्राद्ध=श्रावक (द्वितीय गुणश्रेणी), साधु (तीसरी गुणश्रेणी), तथा तीन प्रकार का अनन्तांशक्षपक, (चौथी गुणश्रेणी), दर्शनमोहनीय का क्षपक (पंचगुणश्रेणी), मोहशमक (छठी श्रेणी) शान्तमोह (सातवीं श्रेणी), क्षपक (८वीं श्रेणी), क्षीणमोह (९वीं श्रेणी), जिन (१०वीं श्रेणी) और अयोगीकेवली (११वीं श्रेणी), इस प्रकार क्रमशः ११ गुणश्रेणियों तक उत्तरोत्तर अध्यात्मगुणवृद्धि होती है ॥८-९-१०॥

यथाक्रमममी प्रोक्ता, असंख्यगुणनिर्जराः ।
यतितव्यमतोऽध्यात्म-वृद्धये कलयापि हि ॥११॥

भावार्थ : इस प्रकार ये क्रमशः ११ गुणश्रेणियाँ उत्तरोत्तर असंख्यगुण निर्जरा वाली कही गई हैं। अतः अध्यात्मवृद्धि के लिए इनका अभ्यासपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए ॥११॥

ज्ञानं शुद्धं क्रिया शुद्धेत्यंशौ द्वाविह संगतौ ।
चक्रे महारथस्येव, पक्षाविव पतत्रिणः ॥१२॥

भावार्थ : महारथ के दोनों चक्रों (पहियों) की तरह तथा पक्षी की दोनों पंखों की तरह शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया, ये दोनों अंश अध्यात्म में एक दूसरे के साथ घुले-मिले हैं— परस्पर संलग्न हैं ॥१२॥

तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैवेतदिच्छति ।
निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमप्युपचारतः ॥१३॥

भावार्थ : निश्चयनय की दृष्टि से अध्यात्म पंचमगुणस्थान से लेकर ही माना जाता है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से तो इससे पूर्व (गुणस्थान) में भी उपचार से अध्यात्म माना जाता है ॥१३॥

चतुर्थेऽपि गुणस्थाने, शुश्रूषाद्या क्रियोचिता ।
अप्राप्तस्वर्णभूषाणां, रजताभूषणं यथा ॥१४॥

भावार्थ : जिसे सोने के आभूषण नहीं मिलते, उसके लिए जिस प्रकार चाँदी के आभूषण भी आभूषण ही कहलाते

हैं, उसी प्रकार चौथे गुणस्थान में भी वैसी उच्च क्रिया न हो तो भी उस गुणस्थानक के योग्य अविरति-सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में भी देव-गुरु की सेवा, धर्मश्रवण की इच्छा, विनय, वैयावृत्य, दान इत्यादि उचित क्रियाएँ होती हैं। इसलिए चौथे गुणस्थान में भी अध्यात्म मानें तो कोई आपत्ति नहीं। जिसके पास सोने के गहने न हों, उसके चाँदी के गहने भी गहने ही कहलाते हैं, वैसे ही जिसे बड़े प्रत्याख्यान की क्रिया प्राप्त न हुई हो, उसे प्राप्त शुश्रूषा आदि उचित क्रिया भी अध्यात्म ही कहलाएगी ॥१४॥

अपुनर्बन्धकस्यापि या क्रिया शमसंयुता ।
चित्रा दर्शनभेदेन धर्म-विघ्नक्षयाय सा ॥१५॥

भावार्थ : विविध दर्शनों (या धर्मपन्थों) के अनुसार अपुनर्बन्धक में भी जो शमयुक्त अनेकविध (विचित्र) क्रियाएँ दिखाई देती हैं, वे भी धर्मप्राप्ति में होने वाले विघ्न को नष्ट करने के लिए होती हैं ॥१५॥

अशुद्धाऽपि हि शुद्धायाः क्रियाहेतुः सदाशयात् ।
ताम्रं रसानुवेधेन स्वर्णत्वमधिगच्छति ॥१६॥

भावार्थ : अशुद्ध क्रिया भी अच्छे आशय (परिणाम) से की जाय तो वह शुद्धक्रिया का कारण बन जाती है। जैसे तांबे को गलाकर उसमें पारे आदि के रस का अनुवेध करने से वह स्वर्णत्व (सोने के रूप) को प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

अतो मार्गप्रवेशाय, व्रतं मिथ्यादृशामपि ।
द्रव्यसम्यक्त्वमारोप्य ददते धीरबुद्धयः ॥१७॥

भावार्थ : इस कारण से धर्ममार्ग में प्रवेश कराने के लिए, द्रव्य–सम्यक्त्व का आरोपण करके धैर्यसम्पन्न बुद्धि–वाले महात्मा मिथ्यादृष्टियों को भी व्रत (चारित्र) देते हैं ॥१७॥

यो बुद्ध्वा भवनैर्गुण्यं, धीरः स्याद् व्रतपालने ।
स योग्यो भावभेदस्तु दुर्लक्ष्यो नोपयुज्यते ॥१८॥

भावार्थ : जो जीव संसार की निर्गुणात्मक निःसारता समझकर व्रतपालन करने में धीर होता है, उसे ही योग्य जानना । आन्तरिक भावों का रहस्य जानना दुष्कर है, इसलिए यहाँ उसका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥१८॥

नो चेद् भावापरिज्ञानात् सिद्ध्यसिद्धिपराहतेः ।
दीक्षाऽदानेन, भव्यानां मार्गोच्छेदः प्रसज्यते ॥१९॥

भावार्थ : यदि पूर्वोक्त रूप से योग्यता का स्वीकार नहीं किया जाय तो किसी के आन्तरिक भावों को नहीं जानने के कारण सिद्धि और असिद्धि दोनों का नाश हो जायगा और इससे भव्यजीवों को (पहचान न होने के कारण) दीक्षा नहीं दी जा सकेगी । इस प्रकार मार्ग का उच्छेद=लोप हो जायगा ॥१९॥

अशुद्धाऽनादरेऽभ्यासायोगान्नो दर्शनाद्यपि ।
सिद्ध्येन्निसर्गजं मुक्त्वा तदप्याभ्यासिकं यतः ॥२०॥

भावार्थ : अशुद्ध (मिथ्यादृष्टि) का अनादर करने पर और शुद्ध योग का अभ्यास प्राप्त न होने से सिर्फ एक निसर्गज (स्वाभाविक) सम्यक्त्व को छोड़कर दूसरे दर्शन आदि भी सिद्ध नहीं होंगे। क्योंकि वे दर्शन आदि भी अभ्यास से ही साध्य (प्राप्त) होते हैं ॥२०॥

शुद्धमार्गानुरागेणाशठानां या तु शुद्धता ।
गुणवत्परतंत्राणां सा न क्वापि विहन्यते ॥२१॥

भावार्थ : सर्वज्ञकथित शुद्ध मुक्तिमार्ग के प्रति अनुराग के कारण कपट-दम्भादि-रहित तथा ज्ञानी गुणवान वहश्रुत गुरु के अधीन होकर जो धर्मप्रिय मार्गानुसारी पुरुष प्रवृत्ति करते हैं, उस समय उनमें मिथ्यात्व कषायादि को मन्द करने के रूप में जो शुद्धता (निर्मलता) है, वह तो किसी भी दर्शन (मत-पंथ) में नष्ट नहीं होती। तब फिर जिनमत में प्रवृत्त धर्मप्रिय जनों की शुद्धता नष्ट न हो, इसमें तो कहना ही क्या ? ॥२१॥

विषयात्मानुबन्धैर्हि त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम् ।
ब्रुवते कर्म तत्राद्यं मुक्त्यर्थं पतनाद्यपि ॥२२॥

भावार्थ : विषय आत्मा और अनुबन्ध, इन तीनों को लेकर कर्म (क्रिया) तीन प्रकार के हैं और वे उत्तरोत्तर शुद्ध हैं। इन तीनों में प्रथम विषय-कर्म कहा गया है—मुक्ति के लिए पर्वतादि से गिरना ॥२२॥

अज्ञानिनां द्वितीयं तु लोकदृष्ट्या यमादिकम् ।
तृतीयं शान्तवृत्त्या तत्तत्वसंवेदनानुगस् ॥२३॥

भावार्थ : दूसरा कर्म है–लोकदृष्टि से यम, नियम आदि । वह अज्ञानियों का होता है । और तीसरा कर्म शान्तवृत्ति से उन–उन तत्त्वों के ज्ञान का अनुसरण करने वाला होता है । अर्थात् वह अनुबन्धकर्म ज्ञानियों का ही होता है ॥२३॥

आद्यान्नाज्ञानबाहुल्यान्मोक्षबाधक – बाधनम् ।
सद्भावाशयलेशेनोचितं जन्म परे जगुः ॥२४॥

भावार्थ : अज्ञान की अधिकता के कारण प्रथम कर्म मोक्ष में बाधक रागादि को रोकने में समर्थ नहीं होता । और कितने ही आचार्यों का कथन है कि वैराग्यादि सद्भाव वाला परिणाम लेशमात्र होने से वह उस परिणाम के अनुरूप (योग्य) जन्म प्राप्त करता है ॥२४॥

द्वितीयाद् दोषहानिः स्यात् काचिन्मण्डूकचूर्णवत् ।
आत्यन्तिकी तृतीया तु गुरुलाघवचिन्तया ॥२५॥

भावार्थ : दूसरे कर्म से मेंढक के चूर्ण के समान कुछ दोषों की हानि (नाश) होती है । और तीसरे कर्म से तो गुरु–लाघव पर विचार करने से दोषों का आत्यन्तिक (सर्वथा) नाश (हानि) हो जाता है ॥२५॥

अपि स्वरूपतः शुद्धा क्रिया तस्माद् विशुद्धिकृत् ।
मौनीन्द्रव्यवहारेण मार्गबीजं दृढादरात् ॥२६॥

भावार्थ : जिनेश्वरदेव के व्यवहार से जीव की जो स्वरूप से शुद्ध क्रिया होती है, वह विशुद्धि करने वाली होती है, इसलिए क्रिया के प्रति अत्यादर करने से जीव को मार्गबीज (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होती है ।।२६।।

गुर्वाज्ञापारतन्त्र्येण द्रव्यदीक्षाग्रहादपि ।
वीर्योल्लासक्रमात्प्राप्ता बहवः परमं पदम् ।।२७।।

भावार्थ : गुरु की आज्ञा के अधीन रहने से द्रव्यदीक्षा ग्रहण करने पर भी बहुत से भव्य जीवों ने वीर्योल्लास (शक्तिवृद्धि) के क्रम से परम (मोक्ष) पद प्राप्त किया है ।।२७।।

अध्यात्माभ्यासकालेऽपि क्रिया काप्येवमस्ति हि ।
शुभौघसंज्ञानुगतं ज्ञानमप्यस्ति किञ्चन ।।२८।।

भावार्थ : अध्यात्मप्राप्ति के निकटकाल में भी कुछ क्रियाएँ रहती हैं और शुभ औघ (सामान्य) संज्ञा के अनुकरण करने वाला कुछ ज्ञान भी रहता है ।।२८।।

अतो ज्ञानक्रियारूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते ।
एतत्प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम् ।।२९।।

भावार्थ : इसलिए अध्यात्म ज्ञान और क्रिया दोनों रूपों में रहता है । वह अध्यात्म निष्कपट आचार से सुशोभित साधकों में वृद्धिगत होता जाता है । हे शिष्य ! पहले तुमने जिस अध्यात्म के विषय में पूछा था, वह अध्यात्म अन्य

विषयों को छोड़कर ज्ञान और क्रिया इन दोनों में ही व्याप्त रहता है । तथा वह अध्यात्मभाव यानी निष्कपट आचार = धर्मव्यवहार से सम्पन्न महात्माओं के जीवन में उतरोत्तर बढ़ता जाता है ॥२९॥

॥ इत्यध्यात्मस्वरूपाधिकारः ॥२॥

• • •

अधिकार तीसरा

[दम्भ-त्याग]

दंभो मुक्तिलतावह्निर्दम्भो राहुः क्रियाविधौ ।
दौर्भाग्यकारणं दंभो, दंभोऽध्यात्मसुखार्गला ॥१॥

भावार्थ : दम्भ मुक्तिरूपी लता को जलाने के लिए अग्नि के समान है, दम्भ क्रियारूपी चन्द्रमा का राहु है, दम्भ दुर्भाग्य का कारण है और दम्भ अध्यात्मसुख की प्राप्ति में अर्गला के समान है ॥१॥

दम्भोज्ञानाद्रिदम्भोलिर्दम्भः कामानले हविः ।
व्यसनानां सुहृद्दम्भो, दंभश्चौरो व्रतश्रियः ॥२॥

भावार्थ : दम्भ ज्ञानरूपी पर्वत को भेदन करने के लिए वज्र के समान है, दम्भ कामाग्नि को उत्तेजित करने में हवि= घी के समान है, दम्भ व्यसनों (बुराईयों) का मित्र है, दम्भ व्रतरूपी लक्ष्मी (शोभा) को हरण करने वाला चोर है ॥२॥

दम्भेनव्रतमास्थाय यो वाञ्छति परं पदम् ।
लोहनावं समारुह्य सोऽब्धेः पारं यियासति ॥३॥

भावार्थ : जो मनुष्य दम्भपूर्वक महाव्रत (मुनिदीक्षा) या अणुव्रत ग्रहण करके परमपद मोक्ष चाहता है, वह ऐसा ही है

जैसे कि कोई लोहे की नाव में बैठकर समुद्र पार करना चाहे। लोहे की नौका पर चढ़ा हुआ व्यक्ति समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही दम्भी संसार-समुद्र में डूब जाता है ॥३॥

किं व्रतेन तपोभिर्वा, दम्भश्चेन्न निराकृतः ।
किमादर्शेन किं दीपैर्यद्यान्ध्यं न दृशोर्गतम् ॥४॥

भावार्थ : जिसने दम्भ का त्याग नहीं किया, उसे व्रत ग्रहण करने या विविध तप करने से क्या लाभ है? कुछ भी तो नहीं। अन्धे आदमी के लिये दर्पण और दीपक किस काम के? जिस प्रकार अन्धे के लिये ये दोनों निरूपयोगी हैं, उसी प्रकार दम्भी के लिये व्रत, तप आदि किसी काम के नहीं हैं, निरर्थक हैं ॥४॥

केशलोच-धराशय्या - भिक्षा-ब्रह्मव्रतादिकम् ।
दम्भेन दूष्यते सर्वं त्रासेनेव महामणिः ॥५॥

भावार्थ : जिस प्रकार बहुमूल्य मणि में जरा-सा दाग (त्रास) लग जाय तो वह बिल्कुल निकम्मा हो जाता है, वह अत्यन्त दूषित हो जाता है; इसी प्रकार साधुवेष धारण करके कोई व्यक्ति केशलोच करता हो, भूमि पर शयन करता हो, दोषरहित भिक्षा ग्रहण करता हो, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों का पालन करता हो, विविध परिषह-उपसर्ग आदि सहन करता हो, लेकिन उसके जीवन में दम्भरूपी दाग हो तो मोक्ष-

साधनरूपी उक्त सभी धर्म दूषित हो जाते हैं। उसकी उक्त सभी क्रियाएँ निकम्मी और निष्फल हो जाती हैं ॥५॥

सुत्यजं रसलाम्पट्यं सुत्यजं देहभूषणम् ।
सुत्यजाः कामभोगाश्च दुस्त्यजं दम्भसेवनम् ॥६॥

भावार्थ : सुस्वादु आहार की रस-लोलुपता छोड़ना आसान है, शरीर का शृंगार भी छोड़ना सरल है। काम-भोगों को भी आसानी से छोड़ा जा सकता है; लेकिन दम्भ का त्याग करना अत्यन्त कठिन है ॥६॥

स्वदोष-निह्नवो लोकः पूजा स्याद् गौरवंतथा ।
इयतैव कदर्थ्यन्ते, दम्भेन बत बालिशाः ॥७॥

भावार्थ : अपने दोषों को छिपाने वाले लोग यों सोचते हैं कि ऐसा करने से लोगों में हमारी पूजा-प्रतिष्ठा होगी, हमारा गौरव बढ़ेगा, लेकिन सचमुच वे मूर्ख इतने-से दम्भ से ही विडम्बना (फजीहत) पाते हैं ॥७॥

असतीनां यथा शीलमशीलस्यैव वृद्धये ।
दम्भेनाव्रतवृद्ध्यर्थं व्रतं वेषभृतां तथा ॥८॥

भावार्थ : जैसे कुलटा स्त्रियों का शील दुराचार की ही वृद्धि के लिए होता है, वैसे ही कोरे वेशधारी साधुओं के व्रतग्रहण (दीक्षा) भी दम्भ के कारण अव्रत (पाप) की वृद्धि के हेतु होते हैं ॥८॥

जानाना अपि दम्भस्य स्फुरितं बालिशा जनाः ।
तत्रैव धृतविश्वासाः प्रस्खलन्ति पदे-पदे ॥९॥

भावार्थ : दम्भ (गूढ़ कपट) के परिणाम को स्पष्ट जानते हुए भी मूढ़जन उसी दम्भ में विश्वास रखकर कदम-कदम पर स्खलित होते (चूकते) हैं, अथवा जगह-जगह तिरस्कृत-अपमानित होते हैं ॥९॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं दीक्षां भागवतीमपि ।
दम्भेन यद्विलुम्पन्ति कज्जलेनेव रूपकम् ॥१०॥

भावार्थ : अहो! मोहनीय कर्म का अद्भुत प्रभाव है कि जिस प्रकार काजल पोतकर कोई अपने असली चेहरे को काला-श्याह कर लेता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी भागवती दीक्षा स्वीकारकर माया (कपट) से उसे दूषित कर देता है ॥१०॥

अब्जे हिमं तनौ रोगो, वने वह्निर्दिने निशा ।
ग्रन्थे मौर्ख्यं कलि सौख्ये धर्मे दम्भ उपप्लवाः ॥११॥

भावार्थ : जैसे कमल पर हिमपात (पाला पड़ना), शरीर में रोग, वन में आग, दिन में रात (अंधेरा), ग्रन्थ के सम्बन्ध में मूर्खता और सुख के प्रसंग में क्लेश उपद्रवरूप हैं, उसी प्रकार धर्म की आराधना में दम्भ उपद्रवकारक है। इससे धर्म की विशुद्धता नष्ट हो जाती है ॥११॥

अतएव न यो धर्तुं मूलोत्तरगुणानलम् ।
युक्ता सुश्राद्धता तस्य, न तु दम्भेन जीवनम् ॥१२॥

भावार्थ : इसलिए जो साधु मूलगुणों को धारण करने में असमर्थ है, उसे श्रावकव्रत ग्रहण कर लेना उचित है, लेकिन दम्भ से जीना उचित नहीं ॥१२॥

परिहर्तुं न यो लिङ्गमप्यलं दृढरागवान् ।
संविज्ञपाक्षिकः स स्यान्निर्दम्भः साधु-सेवकः ॥१३॥

भावार्थ : अगर कोई गाढ़ राग-(मोह) वश मुनिवेश का त्याग न कर सके तो उसे चाहिए कि दम्भरहित सुसाधु का सेवक होकर संविज्ञ-पक्षीय बन जाय ॥१३॥

निर्दम्भस्यावसन्नस्याप्यस्य शुद्धार्थभाषिणः ।
निर्जरां यतना दत्ते स्वल्पापि गुणरागिणः ॥१४॥

भावार्थ : कोई साधु चारित्र में शिथिल (मन्दक्रियावान्) हो, किन्तु दम्भरहित होकर शुद्ध अर्थ का निरूपण करता हो, तो उस गुणानुरागी मुनि की थोड़ी-सी यतना भी निर्जरा का काम करती है ॥१४॥

व्रतभारासहत्वं ये विदन्तोऽप्यात्मनः स्फुटम् ।
दम्भाद्यतित्वमाख्यान्ति तेषां नामापि पाप्मने ॥१५॥

भावार्थ : महाव्रतों के भार को उठाने में साफ तौर से अपनी असमर्थता जानते हुए भी जो कपटपूर्वक अपने में

मुनित्व का अस्तित्व बतलाता है, उसका नाम लेने से भी पाप लगता है ॥१५॥

कुर्वते ये न यतनां सम्यक्कालोचितामपि ।
तैरहो यतिनाम्नैव दाम्भिकैर्वञ्च्यते जगत् ॥१६॥

भावार्थ : जो साधु पंचमकाल अथवा अपनी अवस्था के योग्य उचित यतना (संयमक्रिया, व्रतरक्षा आदि) भी नहीं करते, वे कपटी (दाम्भिक) केवल ढोंग रचकर साधु के नाम से जगत् को ठगते हैं ॥१६॥

धर्मीति ख्यातिलोभेन प्रच्छादित-निजाश्रवः ।
तृणाय मन्यते विश्वं हीनोऽपि धृतकैतवः ॥१७॥

भावार्थ : जिसने धार्मिक के रूप में अपनी प्रसिद्धि की महत्त्वाकांक्षा से अपने पापों को ढंक दिया है, वह ढोंगी साधु कपट रचकर अपने आपमें चारित्रहीन होने पर भी जगत् को तृणवत् तुच्छ समझता है । अहो ! मक्कार लोगों की कैसी विडम्बना है ! ॥१७॥

आत्मोत्कर्षात्ततो दम्भी परेषां चापवादतः ।
बध्नाति कठिनं कर्म बाधकं योगजन्मनः ॥१८॥

भावार्थ : फिर वह दम्भी अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा करके योगोत्पत्ति में बाधक कठोर कर्मों का बन्धन कर लेता है, जिससे वह नरकादि दुर्गति में जाता है ॥१८॥

आत्मार्थिना ततस्त्याज्यो दम्भोऽनर्थनिबन्धनम् ।
शुद्धिः स्यादृजुभूतस्येत्यागमे प्रतिपादितम् ॥१९॥

भावार्थ : अतः दम्भ को अनर्थ का कारण जानकर आत्मार्थी साधक को उसका त्याग करना चाहिए; क्योंकि आगम में बताया गया है कि 'सरलता से ही आत्मा की शुद्धि होती है । सरलात्मा में ही धर्म टिकता है और वही कल्याण का मार्ग है ॥१९॥

जिनैर्नानुमतं किञ्चिन्निषिद्धं वा न सर्वथा ।
कार्ये भाव्यमदम्भेनेत्येषाऽऽज्ञा पारमेश्वरी ॥२०॥

भावार्थ : श्रीतीर्थंकर परमात्मा ने किसी भी कार्य के विषय में एकान्त विधान या निषेध नहीं किया है, किन्तु जिनेश्वरों की ऐसी आज्ञा है कि 'कोई भी कार्य हो, उसे दम्भरहित होकर सरलतापूर्वक करो ।' इसलिए सर्वप्रथम दम्भत्याग करना अनिवार्य है ॥२०॥

अध्यात्मरतचित्तानां दम्भः स्वल्पोऽपि नोचितः ।
छिद्रलेशोऽपि पोतस्य सिन्धुं लंघयतामिव ॥२१॥

भावार्थ : जिनका चित्त अध्यात्मभाव में रत है, उनके लिए जरा-सा दम्भ करना उचित नहीं है, क्योंकि समुद्र पार करने वालों के लिए नौका में जरा-सा भी छेद अनर्थकारी होता है ॥२१॥

दम्भलेशाऽपि मल्यादेः स्त्रीत्वानर्थनिबन्धनम् ।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना ॥२२॥

भावार्थ : जरा-सा दम्भ भी मल्लिनाथ आदि के लिए स्त्रीवेदरूपी अनर्थ का कारण बना, इसलिए महात्मा पुरुष को उसका त्याग करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए ॥२२॥

॥ इति दम्भ-त्यागाधिकारः ॥३॥

• • •

अधिकार चौथा

[भवस्वरूपचिन्ता]

तदेवं निर्दम्भाचरणपटुना चेतसि भव-
स्वरूपं संचिन्त्यं क्षणमपि समाधाय सुधिया ।
इयं चिन्ताऽध्यात्मप्रसरसरसीनीरलहरी,
सतां वैराग्यास्थाप्रियपवनपीना सुखकृते ॥१॥

भावार्थ : इसलिए दम्भरहित आचरण करने में निपुण और बुद्धिमान पुरुष क्षणभर के लिए मन को स्थिर कर संसार के स्वरूप का चिन्तन करे । संसारस्वरूप का चिन्तन अध्यात्म के विशाल सरोवर की जल-तरङ्ग के समान है, वह वैराग्य की आस्थारूपी मनोहरवायु से परिपुष्ट होकर सत्पुरुषों के लिए सुखदायी होता है ॥१॥

इतः कामौर्वाग्निर्ज्वलति परितो दुःसह इतः ।
पतन्ति ग्रावाणो विषयगिरिकूटाद्विघटिताः ॥
इतः क्रोधावर्तो विकृतितटिनी-संगमकृतः ।
समुद्रे संसारे तदिह न भयं कस्य भवति ? ॥२॥

भावार्थ : एक ओर दुःसह कामरूपी वड़वानल चारों तरफ से जल रहा है, दूसरी ओर विषयरूपी पर्वत-शिखर से

टूटे हुए पत्थरों की वर्षा हो रही है, एक तरफ विकृतिरूपी नदियों के संगम से उत्पन्न क्रोधरूपी आवर्त्त (भँवरजाल) दिखता है; तो ऐसे संसार-समुद्र में किसे भय उत्पन्न नहीं होता है? सर्वत्र भय ही दिखता है ॥२॥

प्रिया ज्वाला यत्रोद्वमति रतिसंतापतरला ।
कटाक्षान् धूमौघान् कुवलयदलश्यामलरूचीन् ॥
अथांगान्यंगाराः कृतबहुविकाराश्च विषया ।
दहन्त्यस्मिन् वह्नौ भववपुषि शर्म क्व सुलभम् ॥३॥

भावार्थ : इस संसाररूपी अग्नि में रति (काम) रूपी संताप से चंचल बनी हुई प्रिया रूपी ज्वाला है। जो कमल के पत्र-सी श्यामकान्ति वाले स्त्री-कटाक्षरूपी धूम्रसमूह को बाहर फेंक रही है। स्त्री के अंग अंगारे हैं, जिनसे विषय-विकाररूपी लपटें निकलती हैं। ऐसी धधकती हुई संसाररूपी अग्नि में सुख कहाँ से सुलभ हो ? ॥३॥

गले दत्त्वा पाशं तनयवनितास्नेहघटितं ।
निपीड्यंते यत्र प्रकृतिकृपणाः प्राणिपशवः ॥
नितान्तं दुःखार्त्ता विषमविषयैर्घातकभटै- ।
र्भवः सूनास्थानं तदहह महासाध्वसकरम् ॥४॥

भावार्थ : अहो ! यह संसार एक महाभयानक कसाईखाना है, जहाँ विषमविषयरूपी घातक शूर (कसाई) प्रकृति से तुच्छ

जीवरूपी पशुओं के गले में पुत्र-स्त्री आदि का स्नेहरूपी पाश (फंदा) डालकर उन्हें सतत् पीड़ित कर रहे हैं। और इस कारण अत्यन्त दुःख से पीड़ित जीव-रूपी पशु चिल्ला रहे हैं ॥४॥

अविद्यायां रात्रौ चरति वहते मूर्ध्नि विषमं ।
कषायव्यालौघं क्षिपति विषयास्थीनि च गले ॥
महादोषान् दन्तान् प्रकटयति वक्रस्मरमुखो ।
न विश्वासार्होऽयं भवति भवनक्तंचर इति ॥५॥

भावार्थ : यह संसार राक्षसरूप है, जो अविद्यारूपी रात्रि में चलता है, मस्तक पर भयंकर कषायरूपी सर्पों को धारण करता है, उसके गले में विषयरूपी हड्डियों का ढेर लटक रहा है और फिर वह संसाररूपी राक्षस कामरूपी कुटिल मुख वाला होकर अपने महादोषरूपी दाँत दिखाता है। अतः ऐसे संसाररूपी राक्षस पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥५॥

जना लब्ध्वा धर्मद्रविणलवभिक्षां कथमपि ।
प्रयान्तो वामाक्षीस्तनविषमदुर्गस्थितिकृता ॥
विलुट्यन्ते यस्यां कुसुमशरभिल्लेन बलिना ।
भवाटव्यां नास्यामुचितमसहायस्य गमनम् ॥६॥

भावार्थ : बड़ी मुश्किल से उपार्जित धर्मरूपी धन की जरा-सी भिक्षा प्राप्त करके संसाररूपी अटवी में विचरण करने वाले भव्यजीवों को स्त्रियों के स्तनरूपी विषमदुर्ग में स्थित

कामदेवरूपी जबर्दस्त लुटेरा लूट लेता है । इसलिए ऐसी भयंकर संसार-अटवी में सहायक के बिना प्रवेश करना बिलकुल उचित नहीं है ॥६॥

धनं मे गेहं मम सुकलत्रादिकमतो,
विपर्यासादासादितविततदुःखा अपि मुहुः ॥
जना यस्मिन् मिथ्यासुखमदभृतः कूटघटना-
मयोऽयं संसारस्तदिह न विवेकी प्रसजति ॥७॥

भावार्थ : यह धन मेरा है, वह घर मेरा है, ये स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं; इस प्रकार मेरेपन की विपरीतबुद्धि से बार-बार अत्यन्त दुःख पाने पर भी जगत् में झूठे सुख का घमंड करने वाले लोग बैठे हैं । अतः यह संसार असत्-रचनामय है । इस कूट-कपटमय संसार में विवेकी पुरुष आसक्त नहीं होते ॥७॥

प्रियास्नेहो यस्मिन्निगडसदृशो यामिकभटो
पमः स्वीयो वर्गो धनमभिनवं बंधनमिव ॥
मदामेध्यापूर्णं व्यसनबिलसंसर्गविषमं ।
भवः कारागेहंतदिह न रतिः क्वापि विदुषां ॥८॥

भावार्थ : इस संसार में प्रिया का स्नेह बेड़ी के समान है, पुत्र-स्त्री आदि परिजनवर्ग बहादुर पहरेदार के समान है, धन नया बन्धन है तथा यह संसार-कारागार मदरूपी अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है, व्यसनरूपी गड्ढों (बिलों) के संसर्ग के

कारण भयंकर है । वस्तुतः यह संसार कारागृह है । इसलिए इस पर विद्वान् पुरुष कदापि प्रीति (आसक्ति) नहीं करते ॥८॥

महाक्रोधो गृध्रोऽनुपरति-शृगाली च चपला ।
स्मरोलूको यत्र प्रकटकटुशब्दः प्रचरति ॥
प्रदीप्तः शोकाग्निस्ततमपयशो भस्म परितः ।
स्मशानं संसारस्तदभिरमणीयत्वमिह किम् ॥९॥

भावार्थ : यह संसार एक स्मशान है, जहाँ विकट क्रोधरूपी भयानक गिद्ध (पक्षी) रहते हैं, अविरतिरूप चंचल सियारनी रहती है, कामदेवरूपी उल्लू स्पष्टरूप से भयंकर आवाज करता हुआ स्वच्छन्द घूम रहा है । वहाँ शोकरूपी अग्नि जल रही है, चारों ओर विस्तृत अपयशरूपी राख के ढेर पड़े हैं । अतः ऐसे संसाररूपी मरघट में रमणीयता कहाँ है ? कहीं पर भी तो नहीं ॥९॥

धनाशा यच्छायाप्यतिविषयमूर्छा-प्रणयिनी ।
विलासो नारीणां गुरुविकृतये यत्सुमरसः ॥
फलास्वादा यस्य प्रसरनरकव्याधिनिवह-
स्तदास्था नो युक्ता भवविषतरावत्र सुधियाम् ॥१०॥

भावार्थ : यह संसार विषवृक्ष के समान है; जिसकी धनाशारूपी छाया अत्यन्त विषयमूर्छा बढ़ाने वाली है; उस विषवृक्ष का महाविकारक पुष्पपराग है,—नारियों का विलास ।

उसके फलों का स्वाद नरक के विस्तीर्ण व्याधिसमूह—दुःखसमूह के समान है ! बुद्धिमान पुरुषों को ऐसे संसार-विषवृक्ष पर आस्था रखना ठीक नहीं ॥१०॥

क्वचित्प्राज्यं राज्यं क्वचन धनलेशोऽप्यसुलभः ।
क्वचिज्जाति-स्फातिः क्वचिदपि च नीचत्व-कुयशः ॥
क्वचिल्लावण्यश्रीरतिशयवती क्वापि न वपुः-
स्वरूपं वैषम्यं रतिकरमिदं कस्य नु भवे ॥११॥

भावार्थ : इस संसार में किसी जन्म में विशाल राज्य मिल जाता है तो किसी जन्म में जरा-सा धन भी मिलना दुर्लभ हो जाता है। किसी जन्म में उच्चजाति प्राप्त होती है तो किसी जन्म में नीचकुल का अपयश मिलता है। तथा किसी जन्म में देह की अतिशय सुन्दरतारूपी श्री प्राप्त होती है तो किसी जन्म में शरीर का रूप भी नहीं मिलता। इस प्रकार इस संसार की विषमता (विचित्रता) भला किसे प्रीतिकारक हो सकती है? किसे भी नहीं ॥११॥

इहोद्दामः कामः खनति परिपंथी गुणमही-
मविश्रामः पार्श्वस्थितकुपरिणामस्य कलहः ॥
बिलान्यन्तः क्रामन्मद-फणभृतां पामरमतं ।
वदामः किं नाम प्रकटभवधामस्थितिसुखम् ॥१२॥

भावार्थ : पामरप्राणी जिस संसाररूपी घर में निवास को अत्यन्त सुखकर मान बैठे हैं, उस सुख का हम किस मुँह से

बखान करें? क्योंकि इस संसाररूपी घर में कामदेवरूपी उच्छृंखल शत्रु या चोर घुसा हुआ है, जो (त्रिरत्नमय) गुणरूपी पृथ्वी को खोदता है, पड़ोस में रहे हुए कुपरिणाम के साथ निरन्तर झगड़ा चलता रहता है और अन्दर (मन में) अष्टमदरूपी फणों को धारण करने वाले संचरणशील सर्पों के बिल भी हैं। भला ऐसे संसाररूपी घर में सुख कहाँ से हो ? ॥१२॥

तृषार्ता: खिद्यन्ते विषयविवशा यत्र भविन: ।
करालक्रोधार्काच्छमसरसि शाषं गतवति ॥
स्मरस्वेदक्लेदग्लपितगुणमेदस्यनुदिनम् ।
भवग्रीष्मे भीष्मे किमिह शरणं तापहरणम् ॥१३॥

भावार्थ : जिस संसाररूपी ग्रीष्मकाल में अत्यन्त उग्रक्रोधरूपी प्रचण्ड सूर्य के कारण समतारूपी सरोवर के सूख जाने से विषयों के वशीभूत हुए प्यासे भव्यप्राणी प्यास से पीड़ित होकर खिन्न हो जाते हैं। जहाँ संसाररूपी ग्रीष्मकाल में प्रतिदिन कामरूपी पसीने से तरबतर होने से गुणरूपी चर्बी गल रही है। ऐसे संसाररूपी भयंकर ग्रीष्मकाल में तापहारी कौन सी शरण है ? ॥१३॥

पिता माता भ्राताऽप्यभिलषितसिद्धावभिमतो ।
गुणग्रामज्ञाता न खलु धनदाता च धनवान् ॥
जना: स्वार्थस्फातावनिशमवदाताशयभृत: ।
प्रमाता क: ख्याताविह भवसुखस्यास्तु रसिक: ? ॥१४॥

भावार्थ : इस संसार में माता, पिता, भाई आदि अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त होने पर ही अनुकूल व सहमत होते हैं। धनिक उसके उपकार आदि गुणों को जानता हुआ भी धन नहीं देता। क्योंकि इस जगत् में सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ की वृद्धि में ही निरन्तर रचे-पचे (गाढ परिणामी) रहते हैं। इसलिए संसार के सुख की नाप-जोख करने वाले (प्रमाता) किस रसिक को इसमें सुख कहने में दिलचस्पी है ? ॥१४॥

पणैः प्राणैर्गृह्णात्यहह महति स्वार्थ इह यान् ।
त्यजत्युच्चैर्लोकस्तृणवदघृणस्तानपरथा ॥
विषं स्वान्ते वक्त्रेऽमृतमिति च विश्वासहतिकृद् ।
भवादित्युद्वेगो यदि न गदितैः किं तदधिकैः ॥१५॥

भावार्थ : अहो ! अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता है तो लोग जिन (निर्धन यानी नीच अथवा स्वजन) व्यक्तियों को प्रशंसा, प्रतिष्ठा या धन प्रदान करके प्राणपण से अपनाते हैं, स्वार्थ सिद्ध न होने पर उन्हीं को निर्दयतापूर्वक तिनके की तरह छोड़ देते हैं। इस प्रकार सांसारिक जन हृदय में विष और मुख में अमृत रखकर विश्वासघात करते हैं। अगर ऐसे संसार से तुम्हें उद्वेग (वैराग्य) नहीं होता तो फिर अधिक कहने से क्या लाभ है? कुछ भी नहीं ॥१५॥

दृशां प्रान्तैः कान्तैः कलयति मुदं कोपकलितै-
रमीभिः खिन्नः स्याद् धनधननिधीनामपि गुणी ॥

उपायैः स्तुत्याद्यैरपनयति षं कथमपी–
त्यहो मोहस्यैवं भवभवनवैषम्यघटना ॥१६॥

भावार्थ : स्वयं गुणी पुरुष भी प्रचुरधननिधि वाले धनाढ्यों के नेत्रों के मनोहर कोण देखकर हर्षित हो जाते हैं, और उन्हीं की रोषयुक्त दृष्टि देखकर खिन्न हो जाते हैं। तब उनकी स्तुति (प्रशंसा) आदि उपायों से बड़ी मुश्किल से उन्हें मनाकर उनका रोष दूर करते हैं। अहो ! संसाररूपी भवन में मोहनीयकर्म की ऐसी ही विषम रचना है ॥१६॥

प्रिया प्रेक्षा पुत्रो विनय, इह पुत्री गुणरतिर्–
र्विवेकाख्यस्तातः परिणतिरनिंद्या च जननी ॥
विशुद्धस्य स्वस्य स्फुरति हि कुटुम्बं स्फुटमिदं ।
भवे तन्नो दृष्टं तदपि बत संयोगसुखधीः ॥१७॥

भावार्थ : इस अन्तरंग कुटुम्ब में प्रेक्षा (तत्त्वचिन्ता) नाम की प्रिया है, विनय नामक पुत्र है, गुणरति नाम की पुत्री है, विवेक नाम का पिता और शुद्ध निर्मल परिणति माता है। इस प्रकार विशुद्ध आत्मा का कुटुम्ब स्फटिक के समान स्पष्टतः प्रतिभासित होता है। इस कुटुम्ब को अनादि–संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणी ने देखा ही नहीं; फिर भी उसे स्त्री–पुत्रादि बाह्यकुटुम्ब में संयोगसुख की बुद्धि (इच्छा) मौजूद है, यही आश्चर्य है ॥१७॥

पुरा प्रेमारंभे तदनु तदविच्छेदघटने ।
तदुच्छेदे दुःखान्यथ कठिनचेता विषहते ॥
विपाकादापाकाहितकलशवत्तापबहुलात् ।
जनो यस्मिन्नस्मिन् क्वचिदपि सुखं हन्त न भवे ॥१८॥

भावार्थ : इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है । इस संसार में पहले प्रेम का प्रारम्भ करने में ही दुःख है, उसके बाद उस प्रेम को अखण्ड रूप से टिकाने में कष्ट है; और प्रेम (प्रेमपात्र) के नष्ट (वियोग) हो जाने पर अनेक दुःख होते हैं । जिन्हें कठोरहृदय व्यक्ति कुम्हार के आवे में डाले हुए घड़े के समान चारों ओर से तप्त होकर सहन करता है और अन्त में, वह दुष्कर्म के विपाक के कारण, जन्मान्तर में भी नरकादि दुर्गतियों के दुःख पाता है । अतः संसाररूपी आँवे में जरा भी सुख नहीं है ॥१८॥

मृगाक्षीदृग्बाणैरिह हि निहतं धर्मकटकम् ।
विलिप्ता हृद्देशा इह च बहुलै रागरुधिरैः ॥
भ्रमन्त्यूर्ध्वं क्रूरा व्यसनशतगृध्राश्च तदियम् ।
महामोह-क्षोणीरमणरणभूमिः खलु भवः ॥१९॥

भावार्थ : संसाररूपी रणभूमि में मृनगयना ललनाओं के कटाक्ष बाणों से धर्मराजा की सेना नष्ट हो गई है, इससे इस रणभूमि में अत्यन्त गाढ़ रागरूपी रक्त से सैकड़ों धर्मसुभटों के हृदयरूपी प्रदेश लथपथ हो गए हैं । जहाँ सैंकड़ों व्यसनोंरूपी

क्रूर गिद्ध ऊपर (मस्तक पर या आकाश में) घूम रहे हैं। इस कारण सचमुच यह संसार महामोहराजा की रणभूमि ही है ॥१९॥

हसन्ति क्रीडन्ति क्षणमथ च खिद्यन्ति बहुधा,
रुदन्ति क्रन्दन्ति क्षणमपि विवादं विदधते ॥
पलायन्ते मोदं दधति परिनृत्यन्ति विवशा,
भवे मोहोन्मादं कमपि तनुभाजः परिगताः ॥२०॥

भावार्थ : इस संसार में मोह के अपूर्व उन्माद से उन्मत्त बने हुए प्राणी परवश होकर क्षण में हँसते हैं, किसी क्षण खेलने लग जाते हैं, किसी क्षण खिन्न हो उठते हैं, किसी समय रोने लगते हैं, किसी क्षण जोर से चिल्लाते हैं, विलाप करते हैं, फिर दूसरे ही क्षण विवाद करने लगते हैं, क्षणभर में फिर भागदौड़ करने लगते हैं, किसी क्षण हर्षित होकर नाचने लगते हैं; संसार में ये सब अद्भुत चेष्टाएँ मोह में उन्मत्त होकर प्राणी करते हैं ॥२०॥

अपूर्णा विद्येव प्रकटखलमैत्रीव कुनय-
प्रणालीवास्थाने विधववनितायौवनमिव ।
अनिष्णाते पत्यौ मृगदृश इव स्नेहलहरी ।
भवक्रीडा व्रीडा दहति हृदयं तात्त्विकदृशाम् ॥२१॥

भावार्थ : संसार से सम्बन्धित क्रीडाएँ तत्त्वदर्शी पुरुषों के हृदय को उसी प्रकार जलाती हैं, जैसे अपूर्ण विद्या उसके

पढ़ने वाले को, दुष्ट के साथ प्रत्यक्ष ज्ञात मैत्री, सभा में अन्याय-परम्परा, विधवा स्त्री का यौवन, अकुशल पति के प्रति मृगनयनी की स्नेहलहरी उस-उस व्यक्ति के हृदय को जलाती है ॥२१॥

प्रभाते संजाते भवति वितथा स्वापकलना,
द्विचन्द्रज्ञानं वा तिमिरविरहे निर्मलदृशाम् ॥
तथा मिथ्यारूपः स्फुरति विदिते तत्त्वविषये,
भवोऽयं साधूनामुपरत-विकल्पस्थिरधियाम् ॥२२॥

भावार्थ : जैसे प्रभातकाल होने पर स्वप्न में देखी हुई रचना निष्फल हो जाती है, अथवा रतौंधी (तिमिर रोग) नष्ट होने पर निर्मल दृष्टि वाले जीव को दो चन्द्रमा देखने की भ्रांन्ति मिथ्या प्रतीत होती है, इसी प्रकार विकल्प-रहित, शान्त और स्थिर बुद्धि वाले साधुओं को तत्त्वज्ञान होने पर यह संसार मिथ्यारूप लगता है ॥२२॥

प्रियावाणीवीणा - शयन-तनु - संबाधन-सुखै-
र्भवोऽयं पीयूषैर्घटित इति पूर्वं मतिरभूत् ॥
अकस्मादस्माकं परिकलिततत्त्वोपनिषदा-
मिदानीमेतस्मिन्न रतिरपि तु स्वात्मनि रतिः ॥२३॥

भावार्थ : पहले हमारी बुद्धि (मान्यता) इस प्रकार थी कि यह संसार प्रिया और उसकी मधुर वाणी, वीणानाद, शयन

और शरीर-संवाहन (दबाना) आदि सव प्रकार के सुखरूपी अमृत से बना हुआ है, लेकिन अब हमें अचानक ही आत्मतत्त्व का उपनिषद् (रहस्य) प्राप्त होने के कारण इस संसार में जरा भी प्रीति उत्पन्न नहीं होती, केवल आत्मतत्त्व में ही रुचि होती है ॥२३॥

दधानाः काठिन्यं निरवधिकमाविद्यकभव-
प्रपञ्चाः पाञ्चालीकुच-कलशवन्नातिरतिदाः ॥
गलत्यज्ञानाभ्रे प्रसृमररुचावात्मनि विधौ ।
चिदानन्दस्यन्दः सहज इति तेभ्योऽस्तु विरतिः ॥२४॥

भावार्थ : अब अज्ञान से उत्पन्न इस संसार के प्रपंच काष्ठ या पाषाण आदि से निर्मित पुतली के समान बेहद कठोरता को धारण करने वाले स्तनरूपी कलश की तरह अत्यन्त प्रीतिदायक व रुचिकर नहीं लगते । क्योंकि अज्ञानरूपी बादल के बिखरने पर आत्मज्ञानरूपी चन्द्रोदय हो जाने से स्वाभाविकरूप से चिदानन्दरस प्राप्त हो चुका है । अतः अब संसार के प्रपंचों से सर्वथा विरति हो, यही अच्छा है ॥२४॥

भवे या राज्यश्रीर्गजतुरगगो-संग्रहकृता ।
न सा ज्ञानध्यानप्रशमजनिता किं स्वमनसि ॥
बहिर्याः प्रेयस्यः किमु मनसि ता नात्मरतयः ।
ततः स्वाधीनं कस्त्यजति सुखमिच्छत्यथ परम् ॥२५॥

भावार्थ : संसार में हाथी, घोड़ा, गाय, बैल आदि के संग्रह से बनी हुई राज्यलक्ष्मी होती है, तो क्या योगिजनों के मन में ज्ञान, ध्यान और प्रशम से उत्पन्न अन्तरंग लक्ष्मी नहीं होती? अवश्य होती है। तथा जैसे इस संसार में बाह्य स्त्रियाँ हैं, इसी प्रकार योगियों के मानस में स्थित आत्मरति (आत्मा के प्रति प्रीति) क्या स्त्रीरूप में नहीं रहती? है ही। अतः कौन विद्वान् इस स्वाधीन सुख को छोड़कर पराधीन सुख की वांछा करेगा? ॥२५॥

पराधीनं शर्म क्षयि विषयकांक्षौघमलिनं,
भवे भीतिस्थानं तदपि कुमतिस्तत्र रमते ॥
बुधास्तु स्वाधीनेऽक्षयिणि करणौत्सुक्यरहिते ।
निलीनास्तिष्ठन्ति प्रगलितभयाध्यात्मिकसुखे ॥२६॥

भावार्थ : संसार में जितने भी सुख हैं, वे सभी पराधीन, विनाशी, क्षणिक एवं विषयाकांक्षाओं से मलिन और भयदायक हैं, फिर भी कुबुद्धि व्यक्ति उसमें आनन्द मानता है। परन्तु विद्वान्, तो स्वाधीन, अक्षय, इन्द्रियों की अपेक्षा या उत्सुकता से रहित एवं भयविहीन अध्यात्मसुख में मग्न रहते हैं ॥ २६॥

तदेतद् भाषंते जगदभयदानं खलु भव-
स्वरूपानुध्यानं शमसुखनिदानं कृतधियः ॥

स्थिरीभूते यस्मिन्विधुकिरणकर्पूरविमला ।
यशःश्रीः प्रौढा स्याज्जिनसमयतत्त्वस्थितिविदाम् ।।२७।।

भावार्थ : अतः बुद्धिमान लोग कहते हैं कि इस प्रकार संसार के स्वरूप का चिन्तन (ध्यान) करना (शम) समता-सुख का कारण है, और यह जगत् को अभयदान देता है; तथा उस ध्यान में स्थिर हो जाने से जिनागमतत्त्वज्ञाता पुरुषों की जगत् में चन्द्रकिरण और कपूर के समान उज्ज्वल यशोलक्ष्मी बढ़ती है ।।२७।।

।। इति श्रीनय-विजय-गणि-शिष्य-श्रीयशोविजयेन विरचिते अध्यात्म-सारप्रकरण प्रथमः प्रबन्धः ।।४।।

• • •

अधिकार पाँचवां

[वैराग्य-संभव]

भवस्वरूपविज्ञानाद् द्वेषान्नैर्गुण्यदृष्टिजात् ।
तदिच्छोच्छेदरूपं द्राग् वैराग्यमुपजायते ॥१॥

भावार्थ : संसार के स्वरूप का विशेष ज्ञान होने से, नैर्गुण्य (निःसार) दृष्टि से देखने से उत्पन्न द्वेष (अरुचि) से आत्मा में तत्काल उस संसार (जन्ममरणरूप) की इच्छा का उच्छेदरूप वैराग्य पैदा हो जाता है । संसार के स्वरूप का विशेष बोध हो जाने से तथा संसारी जीवों को अपने आत्मपक्ष में लेशमात्र भी गुण (सार) संसार में नहीं दिखाई देता; जैसे शरीर में सूजन होने से वह फूला हुआ (पुष्ट) दिखता है, किन्तु होता है खोखला ही; वैसे ही संसार थोथे आडम्बरों से भरा है, निःसार है, दुःखमय एवं भयानक है, इस प्रकार संसार के प्रति अरुचि (द्वेष) होने से, संसारसुख की अभिलाषा से निवृत्तिरूप (संसार-विच्छेदनरूप) वैराग्य शीघ्र ही पैदा हो जाता है ॥१॥

सिद्ध्या विषयसौख्यस्य वैराग्यं वर्णयन्ति ये ।
मतं न युज्यते तेषां यावदर्थाप्रसिद्धितः ॥२॥

भावार्थ : जो विषयसुख की सिद्धि को लेकर वैराग्य प्राप्त होने का निरूपण करते हैं, 'जब तक पदार्थ है, तब तक

विषयसुख है, इस प्रकार का उनका मत अप्रसिद्ध (सिद्ध नहीं) है, इसलिए उचित नहीं है ॥२॥

अप्राप्तत्वभ्रमादुच्चैरवाप्तेष्वप्यनन्तशः ।
कामभोगेषु मूढानां समीहा नोपशाम्यति ॥३॥

भावार्थ : कामभोग अनंत बार प्राप्त हुए हैं, फिर भी कभी प्राप्त नहीं, हुए, इस भ्रम से मूढ जीवों की इच्छा शान्त नहीं होती ॥३॥

विषयैः क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावकः ।
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्तिर्भूय एवोपवर्द्धते ॥४॥

भावार्थ : जैसे इन्धन से अग्नि शान्त नहीं होती, अपितु अधिकाधिक भड़कती है, वैसे ही विषयों के सेवन करने से कामवासना शान्त नहीं होती, परन्तु शक्ति बढ़ जाने से कामवासना बारबार अधिकाधिक बढ़ती जाती है ॥४॥

सौम्यत्वमिव सिंहानां पन्नगानामिव क्षमा ।
विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्यं खलु दुर्लभम् ॥५॥

भावार्थ : सिंहों में कभी सौम्यता नहीं आ सकती तथा सर्पों में कभी क्षमा नहीं आ सकती, क्योंकि उनका स्वभाव ही क्रूर है, इसी प्रकार विषयों में प्रवृत्त होने वाले जीवों को वैराग्य होना अतिदुर्लभ है ॥५॥

अकृत्वा विषयत्यागं यो वैराग्यं दिधीर्षति ।
अपथ्यमपरित्यज्य स रोगोच्छेदमिच्छति ॥६॥

भावार्थ : रोगी मनुष्य कितनी भी अच्छी औषध लेता हो, परन्तु कुपथ्य का सेवन करता हो तो उसे औषध लाभदायक नहीं होता; इसी प्रकार जो जीव तप, जप, आदि क्रिया शुद्ध करता हो, परन्तु विषय-वासना का त्याग नहीं करता; उसे क्रियादि से कोई लाभ नहीं होता । वह उन क्रियाओं से संसार से मुक्त नहीं हो सकता ॥६॥

न चित्ते विषयासक्ते वैराग्यं स्थातुमप्यलम् ।
अयोघन इवोत्तप्ते निपतन् बिन्दुरम्भसः ॥७॥

भावार्थ : जैसे तपे हुए लोहे के घन पर जलबिन्दु नहीं टिक सकते, वैसे ही विषयासक्त जीव के मन में वैराग्य नहीं टिक सकता ॥७॥

यदीन्दुः स्यात् कुहुरात्रौ फलं यद्यवकेशिनि ।
तदा विषयसंसर्गिचित्ते वैराग्यसंक्रमः ॥८॥

भावार्थ : यदि अमावस्या की रात को चन्द्रमा का उदय हो जाए, यदि बांझ वृक्ष फल दे दे तो विषयीजीव के हृदय में वैराग्य का संक्रमण हो; अर्थात् ये दोनों बातें जैसे त्रिकाल में भी सम्भव नहीं हैं; वैसे ही विषयासक्त चित्त में भी वैराग्य कदापि संभव नहीं ॥८॥

भवहेतुषु तद्द्वेषाद्विषयेष्वप्रवृत्तितः ।
वैराग्यं स्यान्निराबाधं भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥९॥

भावार्थ : इसलिए संसारवृद्धि के कारणों पर द्वेष (अरुचि) हो, तभी विषयों में अप्रवृत्ति होती है; और विषयों में अप्रवृत्ति होने से संसार को निर्गुण (निःसार) रूप में देखने पर ही वैराग्य निराबाध=निर्विघ्न होता है ॥९॥

चतुर्थेऽपि गुणस्थाने नन्वेवं तत् प्रसज्यते ।
युक्तं खलु प्रमातॄणां भवनैर्गुण्यदर्शनम् ॥१०॥

भावार्थ : यहाँ शिष्य शंका प्रस्तुत करता है कि यों तो अविरति सम्यग्दृष्टि (भोगों में प्रवृत्त) चौथे गुणस्थानक में भी वस्तु को यथार्थरूप से, प्रमाण से, निश्चयरूप से ज्ञातापुरुष संसार की निर्गुणता असारता जानते हैं, क्या उन्हें वैराग्य हो सकता है? और वह वैराग्य युक्त है? ॥१०॥

सत्यं चारित्रमोहस्य महिमा कोऽप्ययं खलु ।
यदन्यहेतुयोगेऽपि फलायोगोऽत्र दृश्यते ॥११॥

भावार्थ : उपर्युक्त कथन सत्य है, परन्तु चारित्र-मोहनीयकर्म की कुछ ऐसी महिमा है कि चौथे गुणस्थानक में अन्य हेतुओं का योग होने पर भी फल का योग नहीं है; फल का अभाव दिखाई देता है ॥११॥

दशाविशेषे तत्रापि न चेदं नास्ति सर्वथा ।
स्वव्यापारहृतासंगं तथा च स्तवभाषितम् ॥१२॥

भावार्थ : चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वदशा में सर्वथा वैराग्य नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, परन्तु वहाँ अपने

आत्मिक स्वभाव में रमणतारूप व्यापार के कारण विषयप्रवृत्ति होने पर भी आसक्ति का ह्रास होता है। श्री वीतराग-स्तोत्र में कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने इसी प्रकार कहा है। वही श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं— ॥१२॥

यदा मरुन्नरेन्द्रश्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते ॥१३॥

भावार्थ : हे देवाधिदेव नाथ ! जब आप देवेन्द्र अथवा नरेन्द्र के ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं, उस समय जहाँ तहाँ भी आपकी प्रीति दिखती है, उसमें वस्तुतः आपकी विरक्त दशा ही थी ॥१३॥

भवेच्छा यस्य विच्छिन्ना प्रवृत्तिः कर्मभावजा ।
रतिस्तस्य विरक्तस्य सर्वत्र शुभवेद्यतः ॥१४॥

भावार्थ : जिसकी भव (जन्ममरण) की इच्छा नष्ट हो गई है, उसकी विषयोपभोग आदि में जो प्रवृत्ति होती है, वह निकाचित कर्म के उदय से होती है, उसमें उस विरक्त की जो प्रीति (रति) दिखाई देती है, वह भी सर्वत्र सातावेदनीयकर्म के उदय से होती है। इससे उनका वैराग्य भाव नष्ट नहीं होता ॥१४॥

अतश्चाक्षेपकज्ञानात् कान्तायां भोगसन्निधौ ।
न शुद्धि-प्रक्षयो यस्माद्धारिभद्रमिदं वचः ॥१५॥

भावार्थ : इसलिए आक्षेपक ज्ञान के कारण स्त्री तथा विषयभोग की सामग्री पास में होते हुए भी उनकी शुद्धि का क्षय नहीं होता, ऐसा श्रीहरिभद्रसूरि का कथन है ॥१५॥

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्ये न प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः ॥१६॥

भावार्थ : सारे संसार को वह तात्त्विक दृष्टि से मृगमरीचिका के समान देखता है; इसलिए कामभोग में उद्विग्न नहीं होता तथा रागाविष्ट भी नहीं होता है, उसमें तन्मय भी नहीं होता है, ऐसी महान् आत्मा निर्विघ्नता से मोक्ष में जाती है ॥१६॥

भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यसंगः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥१७॥

भावार्थ : विषयभोगों को स्वरूपतः इन्द्रजाल के समान जानकर विषयादि का उपभोग करते हुए भी जो उसमें आसक्त नहीं होता वह परमपद=मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१७॥

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलंघनम् ।
मायोदकदृढावेशात्तेन यातीह कः पथा? ॥१८॥

भावार्थ : और जो भवाभिनंदी जीव संसार के भोग को तत्त्वरूप मानता है, वह आत्मा संसार-समुद्र का उल्लंघन नहीं कर सकती । यह वास्तव में मायाजल है । जैसे मृग-मरीचिका

में जल की प्रतीति देखकर उस जल को लेने जाता है; परन्तु हाथ कुछ नहीं आता, वैसे ही विषय–भोग है। ऐसा समझकर इस मनुष्यलोक में कौन इस कुत्सितमार्ग से अभीष्ट स्थल पर पहुँच सकता है? ॥१८॥

स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयं ।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजंबाल मोहितः ॥१९॥

भावार्थ : परमार्थदृष्टियुक्त जीव गृहस्थ में भी संसार से उद्विग्न रहता है; जबकि भोगी मोक्षमार्ग में भी भोगरूपी शैवाल (काई) से लिपटा रहता है ॥१९॥

धर्मशक्तिं न हन्त्यत्र भोगयोगो बलीयसीम् ।
हन्ति दीपापहो वायुर्ज्वलनं न दवानलम् ॥२०॥

भावार्थ : दीपक को बुझाने वाला वायु जैसे जाज्वल्यमान दावानल को नहीं बुझा सकता, वैसे ही भोग का योग अतिबलवती धर्मशक्ति का नाश नहीं कर सकता ॥२०॥

बध्यते बाढमासक्तौ यथाश्लेष्मणि मक्षिका ।
शुष्कगोलवदश्लिष्टो विषयेभ्यो न बध्यते ॥२१॥

भावार्थ : जैसे श्लेष्म (कफ) में मक्खी फंस जाती है, वैसे ही विषय की गाढ़ आसक्ति में जीव फंस जाता है; किन्तु जैसे सूखी मिट्टी के गोले में मक्खी नहीं फंसती है, वैसे ही आसक्ति से रहित उदासीन जीव विषय में नहीं फंसता है ॥२१॥

बहुदोषनिरोधार्थमनिवृत्तिरपि क्वचित् ।
निवृत्तिरिव नो दुष्टा योगानुभवशालिनाम् ॥२२॥

भावार्थ : योग के अनुभवों से सम्पन्न पुरुषों के लिए निवृत्ति की तरह किसी-किसी प्राणी के बहुत-से दोषों का निरोध करने के लिए किसी समय अनिवृत्ति भी दोषरूप नहीं होती ॥२२॥

यस्मिन्निषेव्यमाणेऽपि यस्याशुद्धिः कदाचन ।
तेनैव तस्य शुद्धिः स्यात्कदाचिदिति हि श्रुतिः ॥२३॥

भावार्थ : श्रुति में कहा है-जिन भोगों का सेवन करने से किसी समय जिसकी अशुद्धि होती है, उन्हीं भोगों का सेवन करने से उस मनुष्य की कदाचित् शुद्धि भी होती है ॥२३॥

विषयाणां ततो बन्धजनने नियमोऽस्ति न ।
अज्ञानिनां ततो बन्धो ज्ञानिनां तु न कर्हिचित् ॥२४॥

भावार्थ : इसलिए विषय कर्म का बन्धन करते ही हैं, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। अज्ञानी का जिनसे बन्धन होता है ज्ञानी का उनसे कभी बन्धन नहीं भी होता ॥२४॥

सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते ।
कोऽपि पारजनो न स्याच्छ्रयन् परजनानपि ॥२५॥

भावार्थ : अज्ञानी जीव विषय का सेवन न करते हुए भी सेवन करता है, और ज्ञानी विषयसेवन करते हुए भी सेवन

नहीं करता । जैसे कोई जीव परजन का आश्रय लेने पर भी परजन नहीं होता, वह स्वजन कहलाता है, वैसे ही ज्ञानी कर्ममय नहीं होता ॥२५॥

अतएव महापुण्यविपाकोपहितश्रियाम् ।
गर्भादारभ्य वैराग्यं नोत्तमानां विहन्यते ॥२६॥

भावार्थ : इसलिए महान् पुण्य-विपाक के योग से मोक्ष-लक्ष्मी जिनके निकट हो गई है । उन उत्तम पुरुषों का वैराग्य गर्भ से लेकर नष्ट नहीं होता है ॥२६॥

विषयेभ्यः प्रशान्तानामश्रान्तं विमुखीकृतैः ।
करणैश्चारूवैराग्यमेष राजपथः किल ॥२७॥

भावार्थ : जिसका मन विषयों से उपरत होने से प्रशान्त हो गया है और इन्द्रियों को विषयों से निरन्तर (अविश्रान्त) पराङ्मुख करने के कारण सतत् मनोहर वैराग्य उत्पन्न होता है; यही वैराग्य का राजमार्ग है ॥२७॥

स्वयं निवर्तमानैस्तैरनुदीर्णैरयन्त्रितैः ।
तृप्तैर्ज्ञानवतां तत्स्यादसावेकपदी मता ॥२८॥

भावार्थ : अपने आप निवृत्ति होने से उदीरणा सहित और नियंत्रण के बिना तृप्त हुई इन्द्रियों से ज्ञानियों को जो वैराग्य होता है, वह वैराग्य एक पगडंडी मानी गई है ॥२८॥

बलेन प्रेर्यमाणानि करणानि वनेभवत् ।
न जातु वशतां यान्ति प्रत्युतानर्थवृद्धये ॥२९॥

भावार्थ : इन्द्रियों को बलपूर्वक प्रेरित करने (दबाने) से वे जंगली हाथी के समान कभी काबू (वश) में नहीं आतीं, बल्कि अनर्थ को बढ़ाने वाली बन जाती हैं ॥२९॥

पश्यन्ति लज्जया नीचैर्दुर्ध्यानं च प्रयुञ्जते ।
आत्मानं धार्मिकाभासाः क्षिपन्ति नरकावटे ॥३०॥

भावार्थ : जो धार्मिकाभास धर्मध्वजी लज्जा से नीचे देखते हैं, परन्तु मन में दुर्ध्यान (बुरा चिन्तन) करते हैं, वे धूर्त्त अपनी आत्मा को नरक के कूप में डालते हैं ॥३०॥

वञ्चनं करणानां तद्विरक्तः कर्त्तुमर्हति ।
सद्भावविनियोगेन सदा स्वान्यविभागवित् ॥३१॥

भावार्थ : आत्मा को शुद्धभाव में अर्पण करके निरन्तर स्व और पर के विभाग को जानने वाला उन-उन विषयों से विरक्त पुरुष इन्द्रियों को विषयों से वंचित (दूर) करने में समर्थ हो सकता है ॥३१॥

प्रवृत्तेर्वा निवृत्तेर्वा न संकल्पो न च श्रमः ।
विकारो हीयतेऽक्षाणामिति वैराग्यमद्भुतम् ॥३२॥

भावार्थ : जिस वैराग्य में प्रवृत्ति हो चाहे निवृत्ति, किसी का संकल्प नहीं है और श्रम भी नहीं है तथा इन्द्रिय-विकार क्षीण होता जाता है, वह अद्भुत वैराग्य कहलाता है ॥३२॥

दारूयंत्रस्थपांचालीनृत्यतुल्याः प्रवृत्तयः ।
योगिनां नैव बाधायै, ज्ञानिनो लोकवर्तिनः ॥३३॥

भावार्थ : लौकिक व्यवहार में ज्ञानी की प्रवृत्तियाँ काष्ठयन्त्र में पुतली के नृत्य के समान होती हैं। फिर भी उस योगी के लिए संसारप्रवृत्ति पीड़ाकारक नहीं होती है ॥३३॥

इयं च योगमायेति प्रकटं गीयते परैः ।
लोकानुग्रहहेतुत्वान्नास्यामपि च दुषणम् ॥३४॥

भावार्थ : अन्य दर्शनकारों ने पूर्वोक्त भोग-प्रवृत्ति में वैराग्यदशा को स्पष्टरूप से 'योगमाया' कहा है। वह योगमाया लोकानुग्रह का कारण होने से दोषरूप नहीं होती ॥३४॥

सिद्धान्ते श्रूयते चेयमपवादपदेष्वपि ।
मृगपर्षत्परित्रास-निरासफलसंगता ॥३५॥

भावार्थ : सिद्धान्त में भी सुना जाता है कि अपवादमार्ग में भी मृग के समान अज्ञ पुरुषों की पर्षदा (सभा) के खण्डन (भंग) रूप फल के साथ संगत है ॥३५॥

औदासीन्यफले ज्ञाने परिपाकमुपेयुषि ।
चतुर्थेऽपि गुणस्थाने तद्वैराग्यं व्यवस्थितम् ॥३६॥

भावार्थ : जब ज्ञान परिपक्व होता है, तब उसका फल उदासीनता होती है। उस समय चौथे गुणस्थानक में भी वैराग्य रहता है ॥३६॥

॥ इति वैराग्य-सम्भवाधिकारः ॥

● ● ●

अधिकार छठा

[वैराग्य-भेद]

तद्वैराग्यं स्मृतं दुःख-मोह-ज्ञानान्वयात् त्रिधा ।
तत्राद्यं विषयाप्राप्तेः संसारोद्वेगलक्षणम् ॥१॥

भावार्थ : वह वैराग्य तीन प्रकार का होता है-(१) दुःखगर्भित (२) मोहगर्भित और (३) ज्ञानगर्भित। इनमें से प्रथम दुःखगर्भित वैराग्य वह है, जो मनोवांछित विषयों की प्राप्ति न होने से संसार के प्रति उद्विग्नता (विरक्ति) से होता है ॥१॥

अत्राङ्गमनसोः खेदो ज्ञानमाप्यायकं न यत् ।
निजाभीप्सितलाभे च विनिपातोऽपि जायते ॥२॥

भावार्थ : इस दुःखगर्भित वैराग्य में कारण है—शरीर और मन का खेद। इसमें तृप्ति करने वाला ज्ञान होता ही नहीं है। यदि उसे इष्ट वस्तु मिल जाए तो उसका वैराग्य नष्ट भी हो जाता है ॥२॥

दुःखाद्विरक्ताः प्रागेवेच्छन्ति प्रत्यागतेः पदं ।
अधीरा इव संग्रामे प्रविशन्तो वनादिकम् ॥३॥

भावार्थ : दुःख से घबड़ा कर साधुवेश धारण करने वाले साधक पहले से ही वापस गृहस्थाश्रम में आने की इच्छा कर

लेता है, जैसे अधीर कायर पुरुष युद्ध में जाने से पहले ही वनादि में घुस जाने (छिप जाने) की इच्छा (इरादा) कर लेता है ॥३॥

शुष्कतर्कादिकं किञ्चिद्वैद्यकादिकमप्यहो ।
पठन्ति ते शमनदीं न तु सिद्धान्त-पद्धतिम् ॥४॥

भावार्थ : अहो ! इस प्रकार वैराग्य से सम्पन्न पुरुष शुष्क तर्कशास्त्र तथा वैद्यक आदि के ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं परन्तु शमता (समता) रूपी नदी के समान सिद्धान्त-पद्धति को नहीं पढ़ते ॥४॥

ग्रन्थपल्लवबोधेन, गर्वोष्माणं च बिभ्रति ।
तत्वान्तं नैव गच्छन्ति प्रशमामृतनिर्झरम् ॥५॥

भावार्थ : दुःखविरक्त साधक ग्रन्थों का पल्लवग्राही (ऊपर-ऊपर से) बोध प्राप्त करके गर्व की गर्मी बढ़ा लेते हैं, किन्तु प्रशमामृत (शान्ति के अमृतमय) झरने के समान तत्त्व (अध्यात्म-रहस्य) को नहीं जानते या तत्त्वज्ञान हासिल नहीं कर पाते ॥५॥

वेषमात्रभृतोऽप्येते, गृहस्थान्नातिशेरते ।
न पूर्वोत्थायिनो यस्मान्नापि पश्चान्निपातिनः ॥६॥

भावार्थ : ये सिर्फ साधुवेषधारी हैं, ऐसे व्यक्ति गृहस्थों से अधिक (बढ़कर) नहीं हैं। क्योंकि न तो वे पूर्वोत्थायी हैं, और न वे पश्चात्‌निपाती हैं ॥६॥

गृहेऽन्नमात्रदौर्लभ्यं, लभ्यन्ते मौदका व्रते ।
वैराग्यस्यायमर्थो हि, दुःखगर्भस्य लक्षणम् ॥७॥

भावार्थ : घर में खाने को पर्याप्त अन्न भी नहीं मिलता है और दीक्षा लेने के बाद खाने को रोज लड्डू मिलते हैं, तो फिर दीक्षा में दुःख ही क्या है ? इस प्रकार के वैराग्यभास भावों से जो दीक्षा लेता है, वह दुःख-गर्भित वैराग्य का लक्षण है ॥७॥

कुशास्त्राभ्याससम्भूतं भवनैर्गुण्यदर्शनात् ।
मोहगर्भं तु वैराग्यं मतं बालतपस्विनाम् ॥८॥

भावार्थ : कुशास्त्रों के अध्ययन से संसार की निःसारता=निर्गुणता जानने (देखने) से जो वैराग्य होता है, वह मोहगर्भित वैराग्य होता है । ऐसा वैराग्य बालतपस्वियों को होता है ॥८॥

सिद्धान्तमुपजीव्यापि ये विरुद्धार्थभाषिणः ।
तेषामप्येतदेवेष्टं, कुर्वतामपि दुष्करम् ॥९॥

भावार्थ : जो जिनेश्वर के सिद्धान्त का आश्रय लेकर भी अपनी बौद्धिक कल्पना से सिद्धान्त—विरुद्ध प्ररूपण (उत्सूत्रभाषण) करते हैं; ऐसे साधक भले ही अतिदुष्कर तप आदि या कठोर क्रियाएँ करते हों, उनका वह वैराग्य मोह-गर्भित ही कहलाता है ॥९॥

संसारमोचकादीनामिवैतेषां न तात्त्विकः ।
शुभोऽपि परिणामो, यज्जाता नाज्ञारुचिस्थितिः ॥१०॥

भावार्थ : क्योंकि उनका शुभ परिणाम भी संसार-मोचकादि मत वालों के परिणाम की तरह तात्त्विक नहीं होता; और न ही उनकी वीतराग की आज्ञा में रुचि स्थिर हुई होती है ॥१०॥

अमीषां प्रशमोऽप्युच्चैर्दोषपोषाय केवलम् ।
अन्तर्निलीनविषमज्वरानुद्भवसन्निभः ॥११॥

भावार्थ : मोहगर्भित वैराग्य वाले में प्रशमभाव होता है, लेकिन वह होता है, दोषों के पोषण के लिए ही, क्योंकि उसके अन्तरंग में तो मिथ्यात्व होता है। जैसे अन्तरंग में दबा हुआ विषमज्वर हो तो वह शरीर के धातुओं का शोषण करता रहता है। उसके द्वारा औषधिसेवन भी दोषों के पोषण के लिए होता है; वैसे ही अन्तरंग (अप्रकट) मिथ्यात्व से युक्त साधक के प्रशम (कषायोपशान्ति) का गुण भी दोषपोषक होता है ॥११॥

कुशास्त्रार्थेषु दक्षत्वं शास्त्रार्थेषु विपर्ययः ।
स्वच्छन्दता कुतर्कश्च गुणवत्संस्तवोज्झनम् ॥१२॥

आत्मोत्कर्षः परद्रोहः कलहो दम्भजीवनम् ।
आश्रवाच्छादनं शक्त्युल्लङ्घनेन क्रियादरः ॥१३॥

गुणानुरागवैधुर्यमुपकारस्य विस्मृतिः ।
अनुबन्धाद्यचिन्ता च प्रणिधानस्य विस्मृतिः ॥१४॥

श्रद्धा मृदुत्वमौद्धत्यमधैर्यमविवेकिता ।
वैराग्यस्य द्वितीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली ॥१५॥

भावार्थ : कुशास्त्रों के अर्थ करने में कुशलता, शास्त्रों के अर्थ करने में विपरीतता, स्वच्छन्दता, कुतर्कप्रियता, गुणीजनों के सत्संग का त्याग, ॥१२॥ अपने उत्कर्ष (बड़प्पन) की डींग हांकना, दूसरों से द्रोह रखना, झगड़ा करना, दम्भयुक्त जीवन, पापों को ढंकना, शक्ति से अधिक क्रिया का आदर करना ॥१३॥ गुणानुराग से रहित, परोपकार को भूल जाना, पुण्यानुबन्धक या पापानुबन्धक कर्म का विचार न करना, वैराग्यादि धर्मकार्यों में उपयोगपूर्वक चित्त की एकाग्रता (प्रणिधान) न रखना ॥१४॥ श्रद्धा के विषय में शिथिलता, उद्धत्तता, अधीरता और अविवेक; यह मोहगर्भित द्वितीय वैराग्य की लक्षणावली (लक्षणों की सूची) बताई गई है ॥१५॥

ज्ञानगर्भं तु वैराग्यं समयक्तत्त्वपरिच्छिदः ।
स्याद्वादिनः शिवोपायस्पर्शिनस्तत्त्वदर्शनः ॥१६॥

भावार्थ : सम्यक्त्व तत्त्वों के जानकार, स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) से वस्तुतत्त्व का निर्णय करने वाले, मोक्ष के उपायों का स्पर्श करने (आचरण में लाने) वाले एवं तत्त्वदर्शी आत्मा का वैराग्य ज्ञानगर्भित होता है ॥१६॥

मीमांसा मांसला यस्य स्वपरागमगोचरा ।
बुद्धिः स्यात्तस्य वैराग्यं, ज्ञानगर्भमुदञ्चति ॥१७॥

भावार्थ : जिस साधक की मीमांसा (तत्त्व-विचारणा) विशाल हो, जिसकी बुद्धि स्वपर (जैनसिद्धान्तों और

कपिलादि शास्त्रों) आगमों का ज्ञानसम्पादन करके शुद्धमार्ग को पहचान लेती है। उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य प्रगट होता है ॥१७॥

न स्वान्यशास्त्रव्यापारे प्राधान्यं यस्य कर्मणि ।
नाऽसौ निश्चयसंशुद्धं सारं प्राप्नोति कर्मणः ॥१८॥

भावार्थ : जिस संयमी आत्मा के कार्य में स्व-पर-शास्त्र के (अनुसार) व्यापार (प्रवृत्ति=अनुष्ठान) की प्रधानता (मुख्यता) नहीं है, वह निश्चयदृष्टि से परमार्थशुद्ध कर्म (क्रिया) का सारभूत फल नहीं पाता ॥१८॥

सम्यक्त्वमौनयोः सूत्रे गत-प्रत्यागते यतः ।
नियमो दर्शितस्तस्मात् सारं सम्यक्त्वमेव हि ॥१९॥

भावार्थ : क्योंकि शास्त्र में यह नियम बताया है कि जो सम्यक्त्व है, वही मौन (मुनित्व) है, और जो मौन है, वही सम्यक्त्व है, इन दोनों का अन्योन्याश्रय (गत-प्रत्यागत) सम्बन्ध है। इस कारण सम्यक्त्व ही सारभूत है ॥१९॥

अनाश्रवफलं ज्ञानमव्युत्थानमनाश्रवः ।
सम्यक्त्वं तदभिव्यक्तिरित्येकत्वविनिश्चयः ॥२०॥

भावार्थ : ज्ञान का फल आश्रवरहित होना है, और अनाश्रव (आश्रवत्याग) का फल है—विषयों के प्रति अनासक्ति। इन दोनों की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) ही सम्यक्त्व है। इस प्रकार इन दोनों की अभिन्नता (एकत्व) का निश्चय है ॥२०॥

बहिर्निवृत्तिमात्रं स्याच्चारित्राद् व्यावहारिकात् ।
अन्तःप्रवृत्तिसारं तु सम्यक्प्रज्ञानमेव हि ॥२१॥

भावार्थ : व्यावहारिक चारित्र से केवल बाह्यपदार्थों से निवृत्ति होता है । परन्तु अन्तःकरण की प्रवृत्ति की दृष्टि से श्रेष्ठफलदायक साररूप तो सम्यक्त्वसहित ज्ञान है ॥२१॥

एकान्तेन हि षट्कायश्रद्धानेऽपि न शुद्धता ।
सम्पूर्णपर्ययालाभाद् यन्न याथात्म्यनिश्चयः ॥२२॥

भावार्थ : एकान्तरूप से षड्जीवनिकाय पर श्रद्धा रखने से शुद्धता नहीं होती; क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायों के लाभ के बिना यथार्थस्वरूप का निश्चय नहीं होता ॥२२॥

यावन्तः पर्यया वाचां यावन्तश्चार्थपर्ययाः ।
साम्प्रताऽनागतातीतास्तावद् द्रव्यं किलैककम् ॥२३॥

भावार्थ : जगत् में वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने वचन-पर्याय हैं, और जितने अर्थपर्याय हैं, वे सब मिलकर (समस्त पर्यायसहित) एक ही द्रव्य है ॥२३॥

स्यात्सर्वमयमित्येवं युक्तं स्वपरपर्ययैः ।
अनुवृत्तिकृतं स्वत्वं परत्वं व्यतिरेकजम् ॥२४॥

भावार्थ : इसी प्रकार स्व-पर-पर्यायों से युक्त एक ही द्रव्य सर्वपदार्थमय हो जाता है और उसमें अनुवृत्ति-सहचारी गुण से स्वत्त्व और व्यतिरेक से उत्पन्न परत्व समझना चाहिए ॥२४॥

ये नाम परपर्याया: स्वास्तित्वायोगतो मताः ।
स्वकीया अप्यमी त्यागस्वपर्याय-विशेषणात् ॥२५॥

भावार्थ : जो परपर्याय हैं, वे सब अपने अस्तित्व के अयोग (असम्बन्ध) से माने गए हैं। वे परपर्याय भी त्यागरूप स्वपर्याय के विशेषण से स्वकीय (स्वपर्यायी) कहलाते हैं ॥२५॥

अतादाम्येऽपि सम्बन्ध-व्यवहारोपयोगतः ।
तेषां स्वत्वं धनस्येव व्यज्यते सूक्ष्मया धिया ॥२६॥

भावार्थ : आत्मा में उन परपर्यायों की तद्रूपता नहीं है, फिर भी सम्बन्धरूप व्यवहार के कारण वैसा प्रयोग होता है। जैसे धन धनिक के व्यवहार से अलग नहीं दिखता, वैसे ही सूक्ष्मबुद्धि से आत्मा में परपर्यायों का स्वपर्यायत्व मालूम होता है ॥२६॥

पर्यायाः स्युर्मुनेर्ज्ञानदृष्टिचारित्रगोचराः ।
यथा भिन्ना अपि तथोपयोगाद् वस्तुनो ह्यमी ॥२७॥

भावार्थ : जैसे मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय भिन्न होते हुए भी साथ ही रहते हैं, वैसे ही उपयोग की दृष्टि से निश्चयनय से वस्तु के ये अपने-अपने पर्याय होते हैं, व्यवहारनय से तो एक आत्मा ही होती है ॥२७॥

नो चेदभावसम्बन्धान्वेषणे का गतिर्भवेत् ?
आधारप्रतियोगित्वे द्विष्ठे न हि पृथक् द्वयोः ॥२८॥

भावार्थ : अगर ऐसा न हो तो अभाव के सम्बन्ध में अन्वेषण करने में क्या गति होगी? इसलिए आधार और प्रतियोगी इन दोनों के विषय में वह सम्बन्ध रहता है, परन्तु उन दोनों में पृथक्-पृथक् नहीं रहता ॥२८॥

स्वान्यपर्यायसंश्लेषात् सूत्रेऽप्येवं निर्दशितम् ।
सर्वमेकं विदन्वेद सर्वं जानंस्तथैककम् ॥२९॥

भावार्थ : स्वपर्याय और परपर्याय के संश्लेषण (सम्बन्ध) से सूत्र में सर्व एक ही है, ऐसा कहा गया है । यानी एक द्रव्य को जानने वाला सर्वद्रव्य को जानता है, और सर्वद्रव्य को जानने वाला एक द्रव्य को सम्पूर्ण जानता है ॥२९॥

आसत्तिपाटवाभ्यास-स्वकार्यादिभिराश्रयन् ।
पर्यायमेकमप्यर्थं वेत्ति भावाद् बुधोऽखिलम् ॥३०॥

भावार्थ : आसत्ति, पटुता, अभ्यास, और स्वकार्य आदि को लेकर एक पर्याय का भी आश्रय लेने वाला पण्डितपुरुष भाव से समग्र पदार्थों को जानता है ॥३०॥

अन्तरा केवलज्ञानं प्रतिव्यक्तिर्न यद्यपि ।
क्वापि ग्रहणमेकांशद्वारं चातिप्रसक्तिमत् ॥३१॥

भावार्थ : यद्यपि केवलज्ञान के बिना प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, और किसी-किसी विषय में एकांशद्वार

का ग्रहण (ज्ञान) होता है, तथापि छद्मस्थों को अनेक पर्यायों की प्राप्ति वाला ज्ञान हो जाता है ॥३१॥

अनेकान्तागमश्रद्धा तथाऽप्यस्खलिता सदा ।
सम्यग्दृशस्तयैव स्यात् सम्पूर्णार्थ-विवेचनम् ॥३२॥

भावार्थ : फिर भी सम्यग्दृष्टि पुरुष को अनेकान्त से अनुप्राणित आगमों के प्रति सतत् अस्खलित श्रद्धा होती है, और उसी श्रद्धा से सम्पूर्ण अर्थ का विवेचन हो सकता है ॥३२॥

आगमार्थोपनयनाज्ज्ञानं प्राज्ञस्य सर्वगम् ।
कार्यादेर्व्यवहारस्तु नियतोल्लेखशेखरः ॥३३॥

भावार्थ : आगम के अर्थों का उपनय-अर्थघटन का आश्रय लेने से बुद्धिमान पुरुष को सर्वगामी ज्ञान हो जाता है और कार्य आदि का व्यवहार तो उसके निश्चय किये हुए उल्लेख के शेखर के समान होता है ॥३३॥

तदेकान्तेन यः कश्चिद् विरक्तस्याऽपि कुग्रहः ।
शास्त्रार्थबाधनात् सोऽयं जैनाभासस्य पापकृत् ॥३४॥

भावार्थ : इसलिए जो कोई विरक्त साधक होकर भी एकान्तरूप से एक ही पक्ष का कदाग्रह रखता है, वह कुग्रही है; क्योंकि ऐसा कुग्रही शास्त्र के अर्थ का बाधक होने से जैनाभास और पापकारी होता है ॥३४॥

उत्सर्गे वाऽपवादे वा व्यवहारेऽथ निश्चये ।
ज्ञाने कर्मणि वाऽयं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३५॥

भावार्थ : यदि यह कदाग्रह उत्सर्ग के विषय में, अपवाद के विषय में, व्यवहार या निश्चय के सम्बन्ध में हो, अथवा ज्ञान के विषय में या क्रिया के विषय में हो, तो वह ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता ही नहीं है ॥३५॥

नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने ।
माध्यस्थ्यं यदि नायातं, न तदा ज्ञानगर्भता ॥३६॥

भावार्थ : अपने-अपने अर्थ के विषय में सभी नय सत्य हैं, तथा पर का विचार करने में अनर्थक (असत्य) हैं; इस प्रकार सभी नयों के विषय में जब तक मध्यस्थता नहीं आई, तब तक समझना चाहिए कि ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं है ॥३६॥

स्वागमेऽन्यागमार्थानां शतस्येव परार्धके ।
नावतारबुधत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३७॥

भावार्थ : जैसे परार्ध की संख्या में सौ की संख्या का समावेश हो जाता है, वैसे ही स्वागमों (जैनागमों) में अन्यदर्शनीय आगमों के विषयों का समावेश करने (घटाने) का बुद्धिकौशल न हो तो उस साधक में ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं है, ऐसा मानना चाहिए ॥३७॥

आज्ञयागमिकार्थानां यौक्तिकानां च युक्तितः ।
न स्थाने योजकत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३८॥

भावार्थ : आगमोक्त जो अर्थ (वचन) आज्ञा से ग्राह्य हैं, उन्हें आज्ञाग्राह्य के रूप में, तथा जो अर्थ (बातें) युक्तिग्राह्य हैं, उन्हें युक्ति से ग्रहण करने के रूप में यथास्थान संयोजन करने की योग्यता यदि साधक में नहीं है, तो उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित नहीं है ।।३८।।

गीतार्थस्यैव वैराग्यं ज्ञानगर्भं ततः स्थितम् ।
उपचारादगीतस्याप्यभीष्टं तस्य निश्रया ।।३९।।

भावार्थ : इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानगर्भित वैराग्य गीतार्थ को ही हो सकता है; औपचारिकरूप में गीतार्थ के निश्राय में अगीतार्थ को भी ज्ञानगर्भित वैराग्य माना गया है ।।३९।।

सूक्ष्मेक्षिका च माध्यस्थ्यं सर्वत्र हितचिन्तनम् ।
क्रियायामादरो भूयान् धर्मे लोकस्य योजनम् ।।४०।।

चेष्टा परस्य वृत्तान्ते मूकान्धबधिरोपमा ।
उत्साहः स्वगुणाभ्यासे दुःस्थस्येव धनार्जने ।।४१।।

मदनोन्मादवमनं मद–सम्मर्दमर्दनम् ।
असूयातन्तुविच्छेदः समतामृतमज्जनम् ।।४२।।

स्वभावान्नैव चलनं चिदानन्दमयात् सदा ।
वैराग्यस्य तृतीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली ।।४३।।

भावार्थ : सूक्ष्मदृष्टि, माध्यस्थ्यभाव, हितचिन्तन, क्रिया के प्रति अत्यन्त आदर, जनता को धर्म में लगाना, दूसरों की

बातों के सम्बन्ध में मूक, अंधे और बहरे के समान चेष्टा, अपने में या आत्मा के गुणों को बढ़ाने के अभ्यास के लिए उतना और वैसा ही उत्साह, जितना और जैसा उत्साह निर्धन को धन कमाने के लिए होता है; तथा कामदेव के उन्माद (कामोत्तेजना) का वमन (त्याग), जातिकुलादि अष्ट मदसमूह का मर्दन (मार देना), असूया (दोषदृष्टि तथा डाह) के अंशमात्र (तन्तु) का भी उच्छेद, समतारूपी सुधा में डुबकी लगाना, सदैव अपने चिदानन्दमय स्वभाव में अविचल (अटल) रहना, यह लक्षणावली तृतीय वैराग्य (ज्ञानगर्भित वैराग्य) की मानी गई है ॥४०-४१-४२-४३॥

ज्ञानगर्भमिहादेयं द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः ।
उपयोगः कदाचित् स्यान्निजाध्यात्मप्रसादतः ॥४४॥

भावार्थ : पूर्वोक्त तीनों प्रकार के वैराग्यों में से ज्ञानगर्भित वैराग्य ही यहाँ उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है; बाकी के दोनों प्रकार के वैराग्यों का अपने-अपने अपमर्दन (नाश) को लेकर अपने अध्यात्म के प्रसाद=कृपा से कदाचित् उपयोग हो सकता है ।

॥ इतिवैराग्यभेदाधिकारः ॥

• • •

अधिकार सातवाँ

[वैराग्य-विषय]

विषयेषु गुणेषु च द्विधा, भुवि वैराग्यमिदं प्रवर्तते ।
अपरं प्रथमं प्रकीर्तितं परमध्यात्मबुधैर्द्वितीयकम् ॥१॥

भावार्थ : इस पृथ्वी पर दो प्रकार के वैराग्य प्रचलित हैं—एक तो विषयों के सम्बन्ध में और दूसरा गुणों के सम्बन्ध में । अध्यात्म के विद्वानों ने इन दोनों में से प्रथम वैराग्य को अपर और दूसरे को पर (प्रधान) कहा है ॥१॥

विषया उपलम्भगोचरा अपि चानुश्रविका विकारिणः ।
न भवन्ति विरक्तचेतसां विषधारेव सुधासु मज्जताम् ॥२॥

भावार्थ : शास्त्रों आदि से या अनुभवी पुरुषों से कर्णपरम्परा से सुने हुए विषय के उपलब्ध (प्राप्त) होने पर भी विरक्तचित्त साधकों के लिए उसी तरह विकार पैदा करने वाले नहीं होते, जिस तरह अमृत में निमग्न पुरुष को विषधारा नहीं होती ॥२॥

सुविशालरसालमंजरी-विचरत्कोकिलकाकलीभरैः ।
किमु माद्यति योगिनां मनो निभृतानाहतनादसादरम् ॥३॥

भावार्थ : शान्त और अनाहत ॐ कार आदि ध्वनि में मस्त (आदर वाले) योगियों का मन विशाल आम्रवृक्ष की

मंजरी पर विचरण करने वाली कोयल के मधुरशब्द सुनकर मत्त (मोहित) हो सकता है? कभी नहीं ॥३॥

रमणी-मृदुपाणि-कंकण-क्वणनाकर्णनपूर्णघूर्णनाः ।
अनुभूतिनटी-स्फुटीकृतप्रियसंगीतरता न योगिनः ॥४॥

भावार्थ : अनुभूतिरूपी नटी से प्रकट होने वाले प्रिय (आध्यात्म) संगीत में मग्न योगी रमणियों के कोमल कणों के कंकणों की ध्वनि सुनकर कभी आसक्त नहीं होते ॥४॥

स्खलनाय न शुद्धचेतसा ललनापंचमचारुघोलना ।
यदियं समतापदावली - मधुरालापरतेर्न रोचते ॥५॥

भावार्थ : शुद्धचित्त वाले साधकों को रमणियों के पंचमस्वर की यह मधुरध्वनि स्खलित नहीं कर सकती, क्योंकि समता की कोमलकान्तपदावली के मधुर आलाप में रत साधकों को ललनाओं का यह पंचमनाद रुचिकर नहीं होता ॥५॥

सततं क्षयि शुक्रशोणितप्रभवं रूपमपि प्रियं न हि ।
अविनाशि - निसर्गनिर्मलप्रथमानस्वकरूपदर्शिनः ॥६॥

भावार्थ : अविनाशी, स्वभाव से निर्मल और विराट् आत्म-स्वरूप देखने वाले योगिजनों को सतत् क्षीण होने वाला, वीर्य और रज से उत्पन्न युवती-रूप कदापि प्रिय नहीं लगता ॥६॥

परदृश्यमपायसंकुलं विषयो यत्खलु चर्मचक्षुषः ।
न हि रूपमिदं मुदे यथा निरपायानुभवैकगोचरम् ॥७॥

भावार्थ : जिस प्रकार अपायों से रहित तथा अनुभवमात्रगोचर आत्मस्वरूप योगियों को मोदकारक होता है, उस प्रकार अन्यजनों द्वारा देखने योग्य अपायों से व्याप्त (नाशवान) एवं चर्मचक्षु का विषय यह शारीरिक रूप (सौन्दर्य) प्रीतिकारक नहीं होता ।।७।।

गति-विभ्रम-हास्य-चेष्टितैर्ललनानामिह मोदतेऽबुधः ।
सुकृताद्रिपविष्वमीषु नो विरतानां प्रसरन्ति दृष्टयः ।।८।।

भावार्थ : मूर्ख आदमी इस (चक्षु के) विषय में स्त्रियों की गति (चालढाल), विलास, हास्य और चेष्टाओं को देखकर आनन्द पाते हैं, लेकिन सुकृतरूपी पर्वत का भेदन करने में वज्र के समान इन स्त्रियों के विषय में विरक्तजनों की दृष्टियाँ जरा भी नहीं दौड़तीं ।।८।।

न मुदे मृगनाभि-मल्लिका-लवली-चन्दनचन्द्रसौरभम् ।
विदुषां निरुपाधिबाधितस्मरशीलेन सुगन्धिवर्ष्मणाम् ।।९।।

भावार्थ : उपाधिरहित रूप में कामदेव के बाधक शील से जिनके शरीर सुगन्धित हैं, उन विद्वानों को कस्तूरी, मालतीपुष्प, लवंगलता, चन्दन और कपूर की सौरभ आनन्ददायक नहीं होती ।।९।।

उपयोगमुपैति यच्चिरं, हरते यन्न विभावमारुतः ।
न ततः खलु शीलसौरभादपरस्मिन्निह युज्यते रतिः ।।१०।।

भावार्थ : जो चिरकाल तक उपयोग में आता है, तथा विभावरूपी वायु जिसका हरण नहीं कर सकती, उस शील के सौरभ के सिवाय जगत् में अन्य किसीसे भी प्रीति करना उचित नहीं है ॥१०॥

मधुरैर्न रसैरधीरता क्वचनाऽध्यात्मसुधालिहां सताम् ।
अरसैः कुसुमैरिवालिनां प्रसरत्पद्मपरागमोदिनाम् ॥११॥

भावार्थ : विकसित कमलों के पराग में मुदित होने वाले भौंरों को जैसे नीरस पुष्पों में कोई आतुरता नहीं होती, वैसे ही अध्यात्मरूपी अमृत का आस्वादन करने वाले सत्पुरुषों को पौद्गलिक मधुर रसों में कहीं भी अधीरता नहीं होती ॥११॥

विषयमायतिभिर्नु किं रसैः स्फुटमापातसुखैर्विकारिभिः ।
नवमेऽनवमे रसे मनो यदि मग्नं सतताविकारिणि ॥१२॥

भावार्थ : निर्दोष और सतत् विकाररहित नौवें शान्तरस में यदि मन मग्न हो गया हो तो उसे भयंकर (विषम) परिणाम वाले, ऊपर ऊपर से (भोगकाल में ही) सुखकारक एवं विकारयुक्त अन्य रसों से क्या लाभ है? कुछ भी नहीं ॥१२॥

मधुरं रसमाप्य निष्पतेद् रसनातो रसलोभिनां जलम् ।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं, विरतानां तु ततो दृशोर्जलम् ॥१३॥

भावार्थ : मधुर रस को पाकर स्वादलोलुप लोगों की जीभ से पानी टपकने लगता है, लेकिन विरक्त जीवों को उसके

भयंकर परिणामों का विचार करने से आँखों में आँसू आ जाते हैं ॥१३॥

इह ये गुणपुष्पपूरिते धृतिपत्नीमुपगुह्य शेरते ।
विमले सुविकल्पतल्पके क्व बहिःस्पर्शरता भवन्तु ते ? ॥१४॥

भावार्थ : जो साधक इस जगत् में गुणरूपी पुष्पों से परिपूर्ण निर्मल शुभ विकल्परूपी पलँग पर धृतिरूपी पत्नी का आलिंगन करके सोते हैं, वे स्त्री आदि के बाह्य स्पर्श में आसक्त क्यों होंगे? ॥१४॥

हृदि निर्वृतिमेव बिभ्रतां न मदे चन्दनलेपनाविधिः ।
विमलत्वमुपेयुषां सदा सलिलस्नानकलाऽपि निष्फला ॥१५॥

भावार्थ : हृदय में जो परमशान्ति धारण किये हुए हैं, उन्हें शरीर पर चन्दन के लेप करने से कोई प्रसन्नता नहीं होती । सदा निर्मल आत्मभावों को प्राप्त करने वालों के लिए जल से स्नान करने की कला भी निष्फल है ॥१५॥

गणयन्ति जनुः स्वमर्थवत्सुरतोल्लाससुखेन भोगिनः ।
मदनाहिविषोग्रमूर्च्छनामयतुल्यं नु तदेव योगिनः ॥१६॥

भावार्थ : भोगीजन मैथुन के विलासरूप सुख से अपना जन्म सफल मानते हैं, लेकिन योगीजन उसी सुख को कामरूपी सर्प के विष की उग्रमूर्च्छनारूपी व्याधि के सदृश मानते हैं ॥१६॥

तदिमे विषयाः किलैहिका न मुदे केऽपि विरक्त चेतसाम् ।
परलोकसुखेऽपि निःस्पृहा परमानन्दरसालसा अमी ॥१७॥

भावार्थ : इसलिए विरक्तचेता मुनियों के इहलोक-सम्बन्धी कोई भी विषय आनन्ददायक नहीं होता तथा परम आनन्दरस में मग्न होकर अन्य रसों से भी उदासीन ये मुनिवर परलोकसुख के बारे में निःस्पृह होते हैं ॥१७॥

मदमोहविषादमत्सरज्वरबाधाविधुराः सुरा अपि ।
विषमिश्रितपायसान्नवत् सुखमेतेष्वपि नैति रम्यताम् ॥१८॥

भावार्थ : देवता भी मद, मोह, विषाद एवं मत्सररूप ज्वरों से पीड़ित होते हैं। इसलिए विषमिश्रित खीर के समान देवों का सुख भी रमणीयकोटि में नहीं आता ॥१८॥

रमणीविरहेण वह्निना बहुवाष्पानिलदीपितेन यत् ।
त्रिदशैर्दिवि दुःखमाप्यते, घटते तत्र कथं सुखस्थितिः ? ॥१९॥

भावार्थ : स्वर्ग में देवता देवांगना के विरहरूपी अग्नि को अनेक चक्षुरूपी वायु से भड़का-भड़का कर दुःख पाते हैं, अतः स्वर्ग में सुख की स्थिति कैसे घटित हो सकती है ? ॥१९॥

प्रथमानविमानसम्पदां च्यवनस्यापि दिवो विचिन्तनात् ।
हृदयं न हि यद् विदीर्यते द्युसदां तत्कुलिशाणुनिर्मितम् ॥२०॥

भावार्थ : देवलोक में से च्यवन होने वाला है, यों विचार करके बड़े विमानों की सम्पदा वाले देवों का हृदय

फटता नहीं, क्योंकि उनका हृदय वज्र के परमाणुओं से बना हुआ है ॥२०॥

विषयेषु रतिः शिवार्थिनो न गतिष्वस्ति किलाखिलास्वपि ।
घननन्दनचन्दनार्थिनो गिरिभूमिस्वपरद्रुमेष्विव ॥२१॥

भावार्थ : जैसे सघन नन्दनवन के चन्दनवृक्षों के अभिलाषी को पर्वतीय भूमि पर उगे हुए अन्य वृक्षों पर प्रीति नहीं होती, वैसे ही मोक्षार्थी योगीजन को समस्त (चारों) गतियों के विषयों पर प्रीति नहीं होती ॥२१॥

इति शुद्धमतिस्थिरीकृताऽपरवैराग्यरसस्य योगिनः ।
स्वगुणेषु वितृष्णतावहं परवैराग्यमपि प्रवर्तते ॥२२॥

भावार्थ : इस प्रकार जिसने अपनी शुद्ध बुद्धि में अपरवैराग्यरस को स्थिर कर (जमा) लिया है, ऐसे योगियों को आत्मगुणों के प्रति निःस्पृहता धारण करने वाला पर वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है ॥२२॥

विपुलर्द्धि-पुलाकचारणप्रबलाशीविषमुख्यलब्धयः ।
न मदाय विरक्तचेतसामनुषंगोपनताः पलालवत् ॥२३॥

भावार्थ : आनुषंगिक प्राप्त हुई, विपुलर्द्धि, पुलाक, चारण और प्रबल आशीविष आदि लब्धियाँ विरक्तचित्त पुरुष के लिए अनाज के भूसे की तरह होती है, वे उसमें मद नहीं पैदा कर सकतीं ॥२३॥

कलिताऽतिशयोऽपि विबुधानां मदकृद्गुणव्रजः ।
अधिकं न विदन्त्यमी यतो निजभावे समुदञ्चति स्वतः ॥२४॥

भावार्थ : अतिशय को प्राप्त कोई भी महान् गुणसमूह विद्वज्जनों में अभिमान पैदा करने वाला नहीं होता । क्योंकि उन्हें अपने शुद्ध आत्म स्वभाव में उल्लास (निरतिशय आनन्द) होने से उससे बढ़कर अधिक (अतिशय) किसी को भी नहीं मानते ॥२४॥

हृदये न शिवेऽपि लुब्धता सदनुष्ठानमसंगमंगति ।
पुरुषस्य दशेयमिष्यते सहजानन्दतरंगसंगता ॥२५॥

भावार्थ : जब योगी का सदनुष्ठान निःसंगता को प्राप्त हो जाता है, तब उनके हृदय में मोक्ष के प्रति भी लुब्धता (आसक्ति) नहीं होती । सहजानन्द की तंरग का संग प्राप्त होने पर साधक के लिए यही दशा इष्ट है ॥२५॥

इति यस्य महामतेर्भवेदिह वैराग्यविलासभृन्मनः ।
उपयन्ति वरीतुमुच्चकैस्तमुदारप्रकृतिं यशःश्रियः ॥२६॥

भावार्थ : इस तरह इस लोक में जिस महाबुद्धिशाली योगी का वैराग्य-विलास से पूर्ण मन होता है, उस उदारप्रकृतिवाले के निकट मोक्षलक्ष्मी वरण करने के लिए उत्कण्ठापूर्वक सामने आती है ॥२६॥

॥ इति श्रीमहोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिविरचिते
अध्यात्मसार-प्रकरणे द्वितीयः प्रबन्धः ॥

• • •

अधिकार आठवां

[ममत्व-त्याग]

निर्ममस्यैव वैराग्यं स्थिरत्वमवगाहते ।
परित्यज्येत्ततः प्राज्ञो ममतामत्यनर्थदाम् ॥१॥

भावार्थ : ममतारहित पुरुष का वैराग्य ही स्थिरता प्राप्त करता है; इसलिए बुद्धिशाली साधक को अत्यन्त अनर्थकारिणी ममता का त्याग करना चाहिए ॥१॥

विषयैः किं परित्यक्तैर्जागर्ति ममता यदि ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य भुजगो न हि निर्विषः ॥२॥

भावार्थ : जिसके हृदय में ममता जागृत है, उसके द्वारा विषयों का त्याग कर देने मात्र से क्या लाभ? कंचुकी का त्याग कर देने से ही साँप निर्विष नहीं बन जाता ॥२॥

कष्टेन हि गुणग्रामं प्रगुणीकुरुते मुनिः ।
ममताराक्षसी सर्वं भक्षयत्येकहेलया ॥३॥

भावार्थ : गुणों के जिस पुंज को मुनि बड़े कष्ट से उपार्जन करता है, उन सब गुणों को ममताराक्षसी एक ही कौर में चट कर जाती है ।

चिरकाल तक तप, व्रत, संयम, नियम, इन्द्रियदमन आदि करके बड़े परिश्रम से जिन गुणों से संयमी मुनि अपनी

आत्मा को सुसज्जित करता है, उन सभी चिरसंचित गुणों को ममतारूपी (कामनारूपी) राक्षसी एक ही ग्रास में खा जाती है ॥३॥

जन्तुकान्तं पशूकृत्य द्रागविद्यौषधिबलात् ।
उपायैर्बहुभिः पत्नी ममता क्रीडयत्यहो ॥४॥

भावार्थ : अहो ! ममतारूपी पत्नी अविद्यारूपी औषधि के बल पर जीवरूपी पति को झटपट पशु-सा बनाकर अनेक उपायों से क्रीड़ा कराती है, नचाती है ॥४॥

एकः परभवे याति, जायते चैक एव हि ।
ममतोद्रेकतः सर्वं सम्बन्धं कलयत्यथ ॥५॥

भावार्थ : जीव परभव में अकेला ही जाता है और अकेला ही पैदा होता है, फिर ममता बढ़ाकर उसके कारण सभी सम्बन्धों को दिमाग में जमा लेता है ॥५॥

व्याप्नोति महतीं भूमिं वटबीजाद् यथा वटः ।
तथैकममताबीजाद् प्रपञ्चस्यापि कल्पना ॥६॥

भावार्थ : जैसे वटवृक्ष के एक बीज से पैदा हुआ वटवृक्ष बहुत-सी भूमि को घेर लेता है, वैसे ही ममतारूपी बीज से संसार के विशाल प्रपञ्च की कल्पना होती है ॥६॥

माता पिता मे भ्राता मे, भगिनी वल्लभा च मे ।
पुत्राः सुता मे मित्राणि ज्ञातयः संस्तुताश्च मे ॥७॥

भावार्थ : यह मेरी मां है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहन है, यह मेरी प्रिया है, ये मेरे पुत्र-पुत्रियाँ हैं, ये मेरे मित्र हैं; ये जातिबन्धु हैं, ये मेरे पूर्वपरिचित हैं। इस प्रकार संसार में ज्यों-ज्यों मनुष्य बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों ममता आगे से आगे बढ़ती जाती है ॥७॥

इत्येवं ममताव्याधिं वर्धमानं प्रतिक्षणम् ।
जनः शक्नोति नोच्छेत्तुं विना ज्ञानमहौषधम् ॥८॥

भावार्थ : इस प्रकार ममतारूपी व्याधि प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है। ज्ञानरूपी महौषध के बिना मनुष्य इस ममता की बीमारी को नहीं मिटा सकता ॥८॥

ममत्वेनैव निःशंकमारम्भादौ प्रवर्तते ।
कालाकालसमुत्थायी धनलोभेन धावति ॥९॥

भावार्थ : प्राणी इस ममता के कारण ही निःशंक होकर आरम्भ-समारम्भ आदि में पड़ता है। धन के ममत्त्वरूप लोभ के कारण व्यक्ति योग्य-अयोग्य सभी समय उठकर दौड़धूप करता रहता है ॥९॥

स्वयं येषां च पोषाय खिद्यते ममतावशः ।
इहामुत्र च ते न स्युस्त्राणाय शरणाय वा ॥१०॥

भावार्थ : स्वयं ममता के वश होकर जिनके भरण-पोषण के लिए मनुष्य रात-दिन खिन्न रहता है; वे इस लोक

और परलोक में रक्षा के लिए या शरण देने के लिए तैयार नहीं होते । प्राणी ममता के वशीभूत होकर स्वजन-पुत्र आदि का पालन-पोषण करता है, उनके लिए अनेक प्रकार से कष्ट भी पाता है, किन्तु उस पर जब कोई आफत या संकट आ पड़े या किसी मुसीबत में फँस जाय या देवयोग से कोई मानसिक संताप आ पड़े, तब वे पुत्रादि स्वजन आँखें फेर लेते हैं; मुँह मोड़ लेते हैं, न वे रक्षा के लिए आते हैं, न उसको आश्रय ही देते हैं । जब वे इस लोक में अपने बनकर रक्षा और आश्रय नहीं दे सकते; तब परलोक (स्वर्गादि) में तो वे रक्षक एवं शरणदाता हो ही कैसे सकते हैं? सब अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि में तन्मय हैं, यह सब जानते हुए भी स्वत्त्व मोहवश अज्ञानी बनकर उन्हीं का पोषण करता रहता है, अपना कुछ भी नहीं करता ॥१०॥

ममत्त्वेन बहून् लोकान् पुष्णात्येकोऽर्जितैर्धनैः ।
सोढा नरकदुःखानां तीव्राणामेक एव तु ॥११॥

भावार्थ : ममत्त्ववश मनुष्य स्वयं अकेला ही धन कमाकर उससे अनेक लोगों का पालन-पोषण करता है, किन्तु, उसके परिणामस्वरूप नरक के तीव्र दुःखों को भोगता है वह अकेला ही । यह पुत्र, परिवार आदि मेरा है, इनको जरा भी तकलीफ न हो, ऐसा सोचकर किसी की सहायता लिये बिना अकेला ही धन कमा-कमा कर उससे अनेक लोगों का पोषण

करता है। वे जो भी चीज माँगते हैं, उन्हें खुशी–खुशी लाकर देता है; उस पापकर्म के फलस्वरूप स्वयं अकेला ही नरक में दारुण दुःखों को भोगता है। उन भयंकर दुःखों को सहते समय उसकी सहायता के लिए पुत्रादि कोई भी नहीं आता, उल्टे, पुत्रादि तो उक्त मोहित व्यक्ति द्वारा छोड़कर गए हुए धनमाल को पाकर गुलछर्रे उड़ाते हैं, खूब मौज लूटते हैं, उधर वह बेचारा अकेला नरक में संताप भोगता है। इसलिए सब दुःखों के मूल—ममत्त्व का त्याग करना चाहिए ॥११॥

ममतान्धो हि यन्नास्ति, तत्पश्यति, न पश्यति ।
जात्यन्धस्तु यदस्त्येतद्भेद इत्यनयोर्महान् ॥१२॥

भावार्थ : जन्मान्ध व्यक्ति तो जो वस्तु विद्यमान है, उसे नहीं देखता, मगर ममतान्ध व्यक्ति, जो वस्तु अविद्यमान है, उसी को अस्तित्वरूप में देखता है। यही बड़ा भारी अन्तर इन दोनों में है ॥१२॥

प्राणाननित्यताध्यानात्[१] प्रेमभूम्ना ततोऽधिकम् ।
प्राणापहां प्रियां मत्त्वा मोदते ममतावशः ॥१३॥

भावार्थ : ममता के वश होकर प्राणी प्राणों का नाश करने वाली अपनी प्रियतमा को अभिन्न या अनित्य मानता है, इसलिए प्रेमातिशय के कारण प्राणों से भी अधिक मानकर आनन्द मानता है ॥१३॥

---

१. 'अनित्यता' के बदले कहीं–कहीं 'अभिन्नता' भी पाठ है।

कुन्दान्यस्थीनि दशनान् मुखं श्लेष्मगृहं विधुम् ।
मांसग्रन्थी कुचौ कुम्भौ हेम्नो वेत्ति ममत्त्ववान् ॥१४॥

भावार्थ : ममतावान पुरुष स्त्रियों के हड्डियों के दाँतों को कुन्दपुष्प की कलियाँ समझता है। श्लेष्म के घर मुख को पूर्ण चन्द्रमा मानता है, माँस की गाँठ के समान स्तनों को सोने के कलश समझता है। यह सब ममता की विडम्बना है ॥१४॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव च ।
यस्यास्तामपि लोलाक्षीं साध्वीं वेत्ति ममत्त्ववान् ॥१५॥

भावार्थ : जिस स्त्री के मन में कुछ और है, अथवा मन में किसी दूसरे (यार) के प्रति प्रीति है, वचन में प्रेमवचन से विरुद्ध कुछ और होता है, अथवा वचन से अन्य पुरुष के प्रति प्रेम बताती है और कार्यरूप में कुछ और ही होता है, यानी पति आदि का अनिष्ट करती है, अथवा शरीर से रमणादि क्रिया किसी और के साथ करती है। ऐसी चंचल नेत्र वाली दुष्टा स्त्री को ममत्त्ववान् पुरुष परमसती मानता है ॥१५॥

या रोपयत्यकार्येऽपि रागिणं प्राणसंशये ।
दुर्वृत्ता स्त्री ममत्त्वान्धस्तां मुग्धामेव मन्यते ॥१६॥

भावार्थ : दुराचारिणी स्त्री अपने प्रेमी पति के प्राणों को संकट में डालने वाले चोरी आदि अकार्य में प्रवृत्त कर देती है, अथवा प्राणों का खतरा पैदा हो जाय, ऐसे दुष्कर कार्य में

अपने प्रियतम को डाल देती है, फिर भी उसके मोह (ममत्त्व) में अंधा विवेकचक्षुरहित पुरुष उसे 'यह मेरी प्रिया है', ऐसा मानकर भोली ही समझता है ॥१६॥

चर्माच्छादितमांसास्थिविण्मूत्रपिठरीष्वपि ।
वनितासु प्रियत्वं यत्तन्ममत्वविजृम्भितम् ॥१७॥

भावार्थ : स्त्रियों की देह ऊपर से चमड़े से मढ़ी हुई है, तथा माँस, हड्डियों, विष्ठा और मूत्र की पिटारी है, फिर भी ऐसी घिनौनी स्त्रियों के प्रति जो प्रीति है, वह केवल ममता का ही विलास है ॥१७॥

लालयन् बालकं तातेत्येवं ब्रूते ममत्ववान् ।
वेत्ति च श्लेष्मणा पूर्णामंगुलीममृताञ्चिताम् ॥१८॥

भावार्थ : ममतावान् पुरुष अपने पुत्र को लाड़-प्यार करता हुआ, तात (बापू) कहकर बुलाता है; यानी स्वयं उसका पुत्र बन जाता है। और श्लेष्म (लींट) से भरी हुई अपने मुँह में डाली हुई ऊँगली को ममता के कारण घृणा किये बिना अमृत से सनी हुई सुखदायिनी मानता है ॥१८॥

पंकार्द्र मपि निःशंका सुतमंकान्न मुञ्चति ।
तदमेध्येऽपि मेध्यत्वं जानात्यम्बा ममत्त्वतः ॥१९॥

भावार्थ : मोहित माता अपने पुत्र को कीचड़ या विष्ठा से भरे हुए जानकर भी निःशक होकर अपनी गोद से नीचे नहीं

छोड़ती। ममत्त्ववश वह उसके अपवित्र (गंदे) हो जाने पर भी अथवा उसकी विष्ठा (टट्टी) आदि अशुचि को भी पवित्रता से युक्त समझती है ॥१९॥

मातापित्रादि सम्बन्धोऽनियतोऽपि ममत्त्वतः ।
दृढ़भूमिभ्रमवतां नैयत्येनावभासते ॥२०॥

भावार्थ : जिसके हृदय में भ्रम मजबूत स्थान जमाए हुए है, उन्हें माता, पिता, आदि का अनिश्चित-सम्बन्ध भी ममत्त्ववश निश्चित प्रतीत होता है ॥२०॥

भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो, विभिन्नाः पुद्गला अपि ।
शून्यः संसर्ग इत्येवं यः पश्यति स पश्यति ॥२१॥

भावार्थ : प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है, पुद्गल भी आत्मा से भिन्न है, और उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार जो देखता है, वही देखता (द्रष्टा) है ॥२१॥

अहंताममते स्वत्व-स्वीयत्व-भ्रमहेतुके ।
भेदज्ञानात् पलायेते रज्जुज्ञानादिवाहिभिः ॥२२॥

भावार्थ : जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही भेदज्ञान से स्वत्त्व और स्वकीयत्वरूप भ्रम के हेतु अहंत्व और ममत्व नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

किमेतदिति जिज्ञासा तत्त्वान्तर्ज्ञानसम्मुखी ।
व्यासंगमेव नोत्थातुं दत्ते क्व ममतास्थितिः ॥२३॥

भावार्थ : 'यह क्या है?' इस प्रकार की जो तत्त्वान्त के ज्ञान के सम्मुख होने की जिज्ञासु हुई, वही व्यामोह को उत्पन्न नहीं होने देती, तब फिर ममता को स्थिर कैसे रहने देगी? ॥२३॥

प्रियार्थिनः प्रियाप्राप्तिं विना क्वाऽपि यथा रतिः ।
न तथा तत्त्वजिज्ञासोस्तत्त्वप्राप्तिं विना क्वचित् ॥२४॥

भावार्थ : जैसे प्रेमिका के अभिलाषी कामुक को प्रेमिका के मिले बिना और कहीं भी प्रीति नहीं होती, वैसे ही तत्त्वजिज्ञासु साधक को तत्त्वज्ञान (परमार्थज्ञान) की प्राप्ति के बिना कहीं भी चैन नहीं पड़ता । उसकी रुचि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ में नहीं होती ॥२४॥

अत एव हि जिज्ञासां विष्कम्भति ममत्त्वधीः ।
विचित्राभिनयाक्रान्तः सम्भ्रान्त इव लक्ष्यते ॥२५॥

भावार्थ : इसी कारण ममत्त्वबुद्धि जिज्ञासा को रोक देती है । और तब वह विचित्र प्रकार के अभिनयों से व्याप्त मनुष्य सम्भ्रान्त-सा (हक्का-बक्का-सा) दिखाई देता है ॥२५॥

धृतो योगो, न ममता हता, न समताऽदृता ।
न च जिज्ञासितं तत्त्वं, गतं जन्म निरर्थकम् ॥२६॥

भावार्थ : जिसने योग (मुनिजीवन) धारण किया, किन्तु उसकी ममता मरी नहीं, और न उसने समता को

श्रद्धापूर्वक अपनाया, न ही तत्त्व की जिज्ञासा की, उसका मनुष्यजन्म निरर्थक गया, समझो ॥२६॥

जिज्ञासा च विवेकश्च ममतानाशकावुभौ ।
अतस्ताभ्यां निगृह्णीयादेनामध्यात्मवैरिणीम् ॥२७॥

भावार्थ : जिज्ञासा और विवेक ये दोनों ममता को नष्ट करने वाले हैं। इसलिए इन दोनों से अध्यात्मवैरणी ममता का निग्रह करना चाहिए। अध्यात्म की वैरिणी ममता है, यह जहाँ भी घुस जाती है, अध्यात्म परिणति का सफाया कर डालती है। अतः इस (ममता) का निरोध करने के लिए तत्त्वजिज्ञासा तथा शरीर और आत्मा अथवा स्वपरपदार्थ का भेदविज्ञान (विवेक) इन दोनों को अपनाए। इन दोनों के द्वारा ममतारूपी दुश्मन को हृदयरूपी घर से निकाल देना चाहिए; या उसका भलीभांति निग्रह कर देना चाहिए और अध्यात्म में तन्मय बन जाना चाहिए ॥ २७॥

॥ इति ममता-त्यागाधिकारः ॥

• • •

अधिकार नौवाँ

[समता]

त्यक्तायां ममतायां च समता प्रथते स्वतः ।
स्फटिके गलितोपाधौ यथा निर्मलतागुणः ॥१॥

भावार्थ : जैसे उपाधिरहित हुए स्फटिक (बिल्लौरी काँच) में निर्मलता के गुण स्वतः प्रगट हो जाते हैं, वैसे ही ममता का त्याग होने पर समता स्वतः प्रगट होती है ॥१॥

प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थैर्व्यवहारस्य कल्पना ।
निश्चयात्तद्व्युदासेन स्तैमित्यं समतोच्यते ॥२॥

भावार्थ : पदार्थों को लेकर उनमें जो प्रियत्व या अप्रियत्व के व्यवहार की कल्पना है, उसका निश्चय (परमार्थ) से नाश करके निश्चल=स्थिर हो जाना ही समता कहलाती है ॥२॥

तेष्वेव द्विषतः पुंसस्तेष्वेवार्थेषु रज्यतः ।
निश्चयात् किञ्चिदिष्टं वानिष्टं वा नैव विद्यते ॥३॥

भावार्थ : पुरुष उन्हीं पदार्थों पर द्वेष करता है उन्हीं के प्रति राग (मोह) करने लगता है । निश्चयदृष्टि से तो कोई भी पदार्थ न तो इष्ट है, न अनिष्ट। व्यवहार से कल्पना करने वाले

मनुष्य को वस्त्र, आभूषण, स्त्री, आहार आदि जो पदार्थ पहले प्रयोजन का साधक होता है, वही पदार्थ निष्प्रयोजन हो जाने पर बाधक बन जाता है, अनिष्ट लगने लगता है। जिस पदार्थ के प्रति द्वेष पैदा होता था, उसी पदार्थ की आवश्यकता होने पर प्रसन्नता होती है। इसलिए प्रियत्व-अप्रियत्व की कल्पना प्रयोजन-अप्रयोजन पर निर्भर करती है। वास्तव में निश्चय से तो कोई भी वस्तु न तो इष्ट (प्रिय) है, और न अनिष्ट ही। अपने मन की कल्पना से ही मनुष्य वस्तु को इष्ट या अनिष्ट मान लेता है। विवेकी साधक को इस कल्पना को छोड़कर समता का स्वीकार करना चाहिए ॥३॥

एकस्य विषयो यः स्यात् स्वाभिप्रायेण पुष्टिकृत् ।
अन्यस्य द्वेष्यतामेति स एव मतिभेदतः ॥४॥

भावार्थ : जो विषय एक व्यक्ति को अपने अनुकूल अभिप्राय के कारण पुष्टिकारक (रुचिकारक) लगता है, वही विषय दूसरे मनुष्य के अपने अभिप्राय से भिन्न होने के कारण द्वेषरूप (अप्रिय) हो जाता है ॥४॥

विकल्पकल्पितं तस्माद् द्वयमेतन्न तात्विकम् ।
विकल्पोरमे तस्य द्वित्वादिवदुपक्षयः ॥५॥

भावार्थ : इसलिए इष्ट और अनिष्ट ये दोनों विकल्प मनःकल्पित विकल्प है, परमार्थ से (वस्तुतः) ये सत्य नहीं है।

विकल्प से उपरत (निवृत्त) होने से द्वित्व आदि की तरह उस इष्टानिष्ट का क्षय होता है; तब समत्वगुण प्रगट होता है ।।५।।

स्वप्रयोजनसंसिद्धिः स्वायत्ता भासते यदा ।
बहिरर्थेषु संकल्पसमुत्थानं तदा हतम् ।।६।।

भावार्थ : जब साधक को ऐसा प्रतिभासित होने लगता है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि अपने हाथ में है, तब बाह्यपदार्थों के सम्बन्ध में संकल्प की उत्पत्ति नष्ट हो जाती है ।।६।।

लब्धे स्वभावे कण्ठस्थस्वर्णन्यायाद् भ्रमक्षये ।
रागद्वेषानुपस्थानात् समता स्यादनाहता ।।७।।

भावार्थ : भ्रान्ति का क्षय होने पर गले में पड़े हुए सोने के आभूषण की तरह आत्मस्वभाव (स्वरूप) की साक्षात् प्राप्ति हो जाती है और उससे रागद्वेष की अनुत्पत्ति होने से बेरोकटोक समता प्राप्त होती है ।।७।।

जगज्जीवेषु नो भाति द्वैविध्यं कर्मनिर्मितम् ।
यदा शुद्धनयस्थित्या तदा साम्यमनाहतम् ।।८।।

भावार्थ : जब शुद्धनय की मर्यादा से जगत् के जीवों में कर्मकृत द्वैत (द्विविधता) प्रतिभासित नहीं होता; तभी अनिवार्य अप्रतिबद्ध समता प्राप्त होती है ।।८।।

स्वगुणेभ्योऽपि कौटस्थ्यादेकत्वाध्यवसायतः ।
आत्मारामं मनो यस्य तस्य साम्यमनुत्तरम् ।।९।।

भावार्थ : एकत्व के अध्यवसाय (निश्चय) से, आत्मा के गुणों से और कूटस्थरूप से एकमात्र आत्मा में ही स्थित रहने से जिसका मन आत्मा में ही रमण करता है, उसी की समता को अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) समझो। अभेदरूप से समस्त आत्माओं में (अभेदग्राही नय की दृष्टि से) एकत्वबुद्धि आ जाने से, आत्मा के ज्ञानादि गुणों में भी भेददृष्टि का त्याग करने से तथा उत्पाद-व्यय आदि की अपेक्षारहित, लोहे के घन की तरह निरन्तर निश्चल एक परिणाम—आत्मस्वरूप परिणाम—रहने से जिसका मन आत्मारामी बन जाता है, उसी साधक की समता को सर्वोत्कृष्ट समझो ॥९॥

समतापरिपाके स्याद् विषयग्रहशून्यता ।
यया विशदयोगानां वासीचन्दनतुल्यता ॥१०॥

भावार्थ : समता की परिपक्वता हो जाने से विषयों का आग्रह समाप्त हो जाता है, और उससे निर्मल योग वाले मुनियों में कुल्हाड़ी से छेदन और चन्दन से पूजन दोनों अवस्थाओं में समता आ जाती है ॥१०॥

किं स्तुमः समतां साधो र्या स्वार्थप्रगुणीकृता ।
वैराणि नित्यवैराणामपि हन्त्युपतस्थुषाम् ॥११॥

भावार्थ : हे साधु ! हम आपकी समता की कितनी स्तुति (प्रशंसा) करें ?, जिस समता को आत्मा के प्रोयजन से

अनेक गुणों से सुसज्जित करने से जिन जीवों का परस्पर नित्य विरोध है, वे पास में हों तो उनके वैरभाव को भी शान्त कर देती है ॥११॥

किं दानेन तपोभिर्वा यमैश्च नियमैश्च किम् ?
एकैव समता सेव्या तरिः संसारवारिधौ ॥१२॥

भावार्थ : दान करने या तप करने से क्या लाभ? अथवा यमों और नियमों के पालन से भी क्या फायदा? एकमात्र समता की ही आराधना करनी चाहिए, जो संसार-रूपी समुद्र में नौका के समान है ॥१२॥

दूरे स्वर्गसुखं मुक्तिपदवी या दवीयसी ।
मनः सन्निहितं दृष्टं स्पष्टं तु समतासुखम् ॥१३॥

भावार्थ : स्वर्ग का सुख तो दूर है और मुक्ति की पदवी और भी ज्यादा दूर है, परन्तु अपने मन के समीप रहा हुआ समता का सुख तो प्रत्यक्ष और स्पष्ट है । देवलोक में रहने वाले देवों का पंचेन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न सुख तो चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य दूरस्थ-प्रदेश में है, इसलिए दूर है, और अनन्तसुखमय मोक्षस्थान तो और भी अत्यन्त दूर प्रदेश में है, ये दोनों स्पष्ट दिखाई नहीं देते; परन्तु रागद्वेषादिरहित मन की परिणति से उत्पन्न स्वाभाविक, स्वाधीन एवं मन के निकट स्थित समतासुख तो प्रत्यक्ष अनुभूत है, और अपने हृदय में

देखा हुआ है, इसलिए वह तो स्पष्ट निकट और अनुभवसिद्ध है, जबकि स्वर्गादि का या मोक्ष का सुख तो परोक्ष है, अतः उसका अनुभव ही नहीं होता ॥१३॥

दृशोः स्मरविषं शुष्येत् क्रोधतापः क्षयं व्रजेत् ।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृतमज्जनात् ॥१४॥

भावार्थ : समतारूपी अमृत के कुंड में स्नान करने से आँखों से कामविष सूख जाता है, क्रोध का ताप क्षीण हो जाता है, उद्धतता (उद्दण्डता)-रूपी मल नष्ट हो जाता है ।

जरामरणदावाग्निज्वलिते भवकानने ।
सुखाय समतैकैव पीयूषघनवृष्टिवत् ॥१५॥

भावार्थ : जरा और मृत्युरूपी दावाग्नि से जलते हुए इस संसाररूपी वन के लिए, सुख-शान्ति के लिए अमृतमय मेघवृष्टि के समान एक समता ही है ॥१५॥

आश्रित्य समतामेकां निर्वृता भरतादयः ।
नहि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किञ्चन ॥१६॥

भावार्थ : केवल समता का ही आश्रय लेकर भरत चक्रवर्ती आदि ने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने कुछ भी कष्टकारी (क्रिया) नहीं की थी ॥१६॥

अर्गला नरकद्वारे, मोक्षमार्गस्य दीपिका ।
समता गुणरत्नानां संग्रहे रोहणावनिः ॥१७॥

भावार्थ : समता नरक में प्रवेश करते हुए जीव को रोकने दरवाजे की अर्गला के समान है, वह मोक्षमार्ग में प्रकाश करने वाली दीपिका है, गुणरत्नों का संग्रह करने में रोहणाचल पर्वत के समान है । अतः समता साधक के लिए अनिष्ट–निरोधक एवं इष्ट–सम्पादक है ॥१७॥

मोहाच्छादितनेत्राणामात्मरूपमपश्यताम् ।
दिव्याञ्जनशलाकेव समता दोषनाशकृत् ॥१८॥

भावार्थ : जिनकी आँखें मोह से आच्छादित हैं, अतएव जो आत्मा के स्वरूप को देख नहीं सकते, उनके लिए समता दिव्य अंजनशलाका (सलाई) की तरह है, जो नेत्ररोगनाशक की तरह अज्ञानादि दोषों का नाश करने वाली है। दिव्यचक्षु के रोगों (अज्ञानादि) का नाश होने पर आत्मस्वरूप स्पष्ट जाना जा सकता है ॥१८॥

क्षणं चेतः समाकृष्य समता यदि सेव्यते ।
स्यात्तदा सुखमन्यस्य यद्वक्तुं नैव पार्यते ॥१९॥

भावार्थ : जीव एक क्षण के लिए भी समस्त विषयों से चित्त को खींचकर (समेटकर) यदि समता का सेवन करे तो उसे जो सुख मिले, उसका दूसरों के सामने वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। यानी वह अपूर्व आनन्द अनिर्वचनीय होता है। समता के आनन्द का अनुभव समतावान् ही कर सकता है ॥१९॥

कुमारी न यथा वेत्ति सुखं दयितभोगजम् ।
न जानाति तथा लोको योगिनां समतासुखम् ॥२०॥

भावार्थ : जैसे कुंआरी कन्या पति-सहवास के सुख को नहीं जानती, वैसे ही सांसारिक लोग योगिजनों को प्राप्त होने वाले समतासुख को नहीं जानते ॥२०॥

नति-स्तुत्यादिकाशंसाशरस्तीव्रः स्वमर्मभित् ।
समतावर्मगुप्तानां नार्तिकृत्सोऽपि जायते ॥२१॥

भावार्थ : नमस्कार, स्तुति, प्रशंसा, यश आदि की लिप्सा वे तीखे बाण हैं, जो साधक की आत्मा के मर्मस्थान का भेदन कर देते हैं; परन्तु समतारूपी कवच (बख्तर) पहनकर जिन्होंने पहले से ही अपनी आत्मा की सुरक्षा कर ली है, उन्हें ये सब पीड़ाकारी नहीं होते ॥२१॥

प्रचितान्यपि कर्माणि जन्मनां कोटिकोटिभिः ।
तमांसीव प्रभा भानोः क्षिणोति समता क्षणात् ॥२२॥

भावार्थ : जैसे सूर्य की प्रभा घने से घने अन्धकारसमूह को क्षणभर में नष्ट कर देती है, वैसे ही कोटि-कोटि जन्मों के संचित कर्मों को समता एकक्षण में नष्ट कर देती है ॥२२॥

अन्यलिंगादिसिद्धानामाधारः समतैव हि ।
रत्नत्रयफलप्राप्तेर्यया स्याद् भावजैनता ॥२३॥

भावार्थ : अन्यलिंग (जैनसाधकों से भिन्न वेष) आदि से जो सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, उनकी साधना का आधार समता ही रही है, जिस समता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नत्रय के फल की प्राप्ति होने से भावजैनत्त्व प्राप्त होता है ॥२३॥

ज्ञानस्य फलमेषैव नयस्थानावतारिणः ।
चन्दनं वह्निनेव स्यात् कुग्रहेण तु भस्म तत् ॥२४॥

भावार्थ : समस्त नयों के अपने-अपने स्थान में स्थापित करने वाले ज्ञान का फल भी यह समता ही है; अन्यथा वह ज्ञान कुग्रह (कदाग्रह) से उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जैसे आग से चन्दन भस्म हो जाता है ॥२४॥

चारित्रपुरुषप्राणाः समताख्या गता यदि ।
जनानुधावनावेशस्तदा तन्मरणोत्सवः ॥२५॥

भावार्थ : चारित्ररूपी पुरुष के समतारूपी प्राण यदि चले जायँ तो मनुष्यों का उसे वंदना करने के लिए दौड़कर पहुंचने का आवेश ही मानो उसकी मृत्यु के महोत्सव सा हो रहा है ॥२५॥

संत्यज्य समतामेकां स्याद्यत्कष्टमनुष्ठितम् ।
तदीप्सितकरं नैव बीजमुप्तमिवोषरे ॥२६॥

भावार्थ : एक समता को छोड़कर जो भी कष्टकारी क्रिया की जाती है, वह ऊसरभूमि में बोये हुए बीज के समान अभीष्ट फल देने वाली नहीं होती ॥२६॥

उपायः समतैवेका मुक्तेरन्यः क्रियाभरः ।
तत्तत्पुरुषभेदेन तस्या एव प्रसिद्धये ॥२७॥

भावार्थ : मुक्ति का एकमात्र उपाय समता है, इसके बिना अन्य सभी क्रिया-कलाप उस उस पुरुष (पात्र) के भेद को लेकर उस समता की सिद्धि के लिए ही हैं ॥२७॥

दिङ्मात्रदर्शने शास्त्रव्यापारः स्यान्न दूरगः ।
अस्याः स्वानुभवः पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते ॥२८॥

भावार्थ : शास्त्र का व्यापार (प्रवृत्ति) केवल दिशादर्शन के बारे में ही होता है, वह दूर तक साथ नहीं आ सकता । इसलिए समता का सामर्थ्य नामक आत्मानुभव ही इस समता के तीर तक पहुँचाता है ॥२८॥

परस्मात्परमेषा यन्निगूढं तत्त्वमात्मनः ।
तदध्यात्मप्रसादेन कार्योऽस्यामेव निर्भरः ॥२९॥

भावार्थ : इस कारण यह समता ही आत्मा का पर से भी पर (सर्वोत्कृष्ट) अतिगूढ़ तत्व है । अतः समता के विषय में अध्यात्म के प्रसाद (प्रताप) से समता पर ही निर्भर होकर उद्यम करना चाहिए ॥२९॥

॥ इति समताधिकारः ॥

• • •

अधिकार दसवाँ

[सदनुष्ठान]

परिशुद्धमनुष्ठानं जायते समतान्वयात् ।
कतकक्षोदसंक्रान्तेः कलुषं सलिलं यथा ॥१॥

भावार्थ : जैसे कतक (निर्मली) का चूर्ण मैले पानी में डालने से वह निर्मल हो जाता है, वैसे ही समता के योग से अनुष्ठान भी परिशुद्ध हो जाता है ॥१॥

विष-गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुरुसेवाद्यनुष्ठानमिति पंचविधं जगुः ॥२॥

भावार्थ : गुरुसेवा आदि अनुष्ठान विष, गर, अननुष्ठान तद्धेतु और उत्कृष्ट अमृत के रूप में पाँच प्रकार का कहा गया है ॥२॥

आहारोपधिपूजर्द्धि-प्रभृत्याशंसया कृतम् ।
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वाद्विषानुष्ठानमुच्यते ॥३॥

भावार्थ : आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि आदि की इच्छा से जो अनुष्ठान (क्रिया) किया जाता है, वह तत्काल शुभ चित्त को हरण करने वाला होने से विषानुष्ठान कहलाता है ॥३॥

स्थावरं जंगमं चाऽपि तत्क्षणं भक्षितं विषम् ।
यथा हन्ति तथेदं सच्चित्तमैहिकभोगतः ॥४॥

भावार्थ : जैसे स्थावर या जंगम विष तो खाने पर उसे खाने वाले को तत्काल मार डालता है, वैसे ही यह विषानुष्ठान भी ऐहिक भोग—इस जन्म में प्राप्त होने वाले अनुकूल खान-पान आदि की आकांक्षा से करने पर शुभचित्त को खत्म कर देता है ॥४॥

दिव्यभोगाभिलाषेण कालान्तर-परिक्षयात् ।
स्वादृष्टफलसम्पूर्तेर्गराऽनुष्ठानमुच्यते ॥५॥

भावार्थ : दिव्य भोगों की लालसा से सदनुष्ठान करने पर वह अपने पुण्यकर्म के फल की पूर्णता को कालान्तर में क्षय कर देता है। इसलिए इस प्रकार की आकांक्षा से किया हुआ अनुष्ठान गरानुष्ठान कहलाता है ॥५॥

यथा कुद्रव्यसंयोगजनितं गरसंज्ञितम् ।
विषं कालान्तरे हन्ति तथेदमपि तत्त्वतः ॥६॥

भावार्थ : जैसे कु द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न गर नामक विष कालान्तर में मारता है, इसी प्रकार यह गरानुष्ठान भी वस्तुतः कालान्तर (दूसरे आदि जन्म) में आत्मा का हनन कर देता है ॥६॥

निषेधायानयोरेव विचित्रानर्थदायिनोः ।
सर्वत्रैवानिदानत्वं जिनेन्द्रैः प्रतिपादितम् ॥७॥

भावार्थ : विचित्र प्रकार के अनर्थ करने वाले इन दो प्रकार के अनुष्ठानों के निषेध करने के लिए ही तीर्थंकर

भगवन्तों ने सर्वत्र (क्रियाओं के साथ) निदान का निषेध किया है ॥७॥

प्रणिधानाद्यभावेन कर्मानध्यवसायिनः ।
संमूर्च्छिम-प्रवृत्ताभमननुष्ठानमुच्यते ॥८॥

भावार्थ : प्रणिधान (मन की एकाग्रता) आदि के अभाव से, अध्यवसायरहित पुरुष का संमूर्च्छिम की प्रवृत्ति के समान सूने मन से अथवा देखादेखी जो क्रिया होती है, उसे अननुष्ठान कहते हैं ॥८॥

ओघसंज्ञाऽत्र सामान्यज्ञानरूपा निबन्धनम् ।
लोकसंज्ञा च निर्दोषसूत्रमार्गानपेक्षिणी ॥९॥

भावार्थ : इस अननुष्ठानरूप अनुष्ठान (क्रिया) में प्रवृत्ति का कारण सामान्य ज्ञानरूप ओघसंज्ञा तथा निर्दोष सूत्रमार्ग की अपेक्षारहित लोक संज्ञा हैं ॥९॥

न लोकं नाऽपि सूत्रं, नो गुरुवाचमपेक्षते ।
अनध्यवसितं किञ्चित् कुरुते चौघसंज्ञया ॥१०॥

भावार्थ : ओघसंज्ञा से प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति लोक की, सूत्र की या गुरुवचन की अपेक्षा नहीं रखता; वह अपनी आत्मा के अध्यवसाय से रहित कुछ न कुछ क्रियादि करता रहता है ॥१०॥

शुद्धस्यान्वेषणे तीर्थोच्छेदः स्यादिति वादिनाम् ।
लोकाचारादरश्रद्धा लोकसंज्ञेति गीयते ॥११॥

भावार्थ : 'शुद्धमार्ग का ही अन्वेषण करने से तीर्थ का उच्छेद होता है; ऐसा कहने वालों का लोकप्रवृत्ति के प्रति आदर और श्रद्धा रखकर तदनुसार चलना लोकसंज्ञा कहलाती है ॥११॥

शिक्षितादिपदोपेतमप्यावश्यकमुच्यते ।
द्रव्यतो भावनिर्मुक्तमशुद्धस्य तु का कथा ? ॥१२॥

भावार्थ : शिक्षित आदि पदों से युक्त आवश्यक भी द्रव्य से आवश्यक कहलाता है, तब फिर भावरहित अशुद्ध आवश्यक की बात ही क्या की जाय? उसे तो द्रव्यावश्यक भी नहीं कहा जा सकता ॥१२॥

तीर्थोच्छेदभिया हन्ताविशुद्धस्येव चादरे ।
सूत्रक्रियाविलोपः स्याद् गतानुगतिकत्त्वतः ॥१३॥

भावार्थ : अफसोस है ! तीर्थ का उच्छेद हो जायगा, इस भय से अशुद्ध को ही अपनाने से तो गतानुगतिकता के कारण शास्त्रोक्त क्रिया का ही लोप हो जाता है उससे फिर तीर्थरक्षा कैसे होगी? ॥१३॥

धर्मोद्योतेन कर्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत् ।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥१४॥

भावार्थ : जिस कार्य को अनेक लोगों ने किया, उसे ही धर्म में पुरुषार्थी को करना चाहिए; अगर ऐसी बात कहते हैं,

तो फिर मिथ्यादृष्टियों द्वारा किया हुआ धर्म कदापि त्याज्य नहीं होगा, वह शाश्वत रहेगा ॥१४॥

तस्माद् गत्यानुगत्या यत् क्रियते सूत्रवर्जितम् ।
ओघतो लोकतो वा तदननुष्ठानमेवहि ॥१५॥

भावार्थ : इसलिए गतानुगतिकता से यानी सूत्रोक्त, आचाररहित ओघलोकसंज्ञा से–देखादेखी से जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अननुष्ठान ही कहलाता है । अतः मोक्षसाधक न होने से उसका त्याग करना चाहिए ॥१५॥

अकामनिर्जरांगत्वं कायक्लेशादिहोदितम् ।
सकामनिर्जरा तु स्यात् सोपयोगप्रवृत्तितः ॥१६॥

भावार्थ : इस अनुष्ठान में उठना—बैठना, उग्रविहार आदि का कायक्लेश होने से अत्यधिक शरीरश्रम होने के कारण वह अकामनिर्जरा का निमित्त होती है । अर्थात् मोक्ष के उद्देश्य से उत्पन्न न होने के कारण वह अनुष्ठान मोक्ष का कारण नहीं बनता, इसलिए वह अनुष्ठान (अननुष्ठान) कुछ को मनुष्यगति, कुछ को व्यन्तर आदि गति प्राप्त कराने वाले पुण्य का कारण होने से सांसारिक सुख का निमित्त हो जाता है, ऐसा आप्त पुरुषों ने आगमों में कहा है । किन्तु सकामनिर्जरा—यानी मोक्ष के उद्देश्यपूर्वक शुद्ध उपयोगसहित साध्य की दृष्टि से प्रवृत्ति करने पर ही होती है । इसलिए अननुष्ठानरूप अनुष्ठान

करने वाले किसी विरले पुरुष की ही सकामनिर्जरा होती है, अन्य बहुत-से पुरुषों की नहीं होती। इसलिए यह त्याज्य है ॥१६॥

सदनुष्ठानरागेण तद्धेतुर्मार्गगामिनाम् ।
एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत् ॥१७॥

भावार्थ : मार्गानुसारी पुरुषों को सदनुष्ठान के प्रति अनुराग से तद्धेतु—अनुष्ठान होता है। यह अनुष्ठान अनाभोगादि के बिना चरमावर्त के धनी (जिसके एक-पुद्गल-परावर्त संसार बाकी रहता है, उस जीव) को प्राप्त होता है ॥१७॥

धर्मयौवनकालोऽयं भवबालदशाऽपरा ।
अत्र स्यात् सत्क्रियारागोऽन्यत्र चासत्क्रियादरः ॥१८॥

भावार्थ : यह चरम पुद्गलपरावर्तकाल धर्म की जवानी का समय है, इसके अतिरिक्त समय संसार की बाल्यावस्था है। इस चरम-पुद्गलपरावर्तकाल में सत्क्रिया (धर्मक्रिया) के प्रति अनुराग होता है, जबकि उससे पहले के काल में असत्क्रिया के प्रति आदर होता है ॥१८॥

भोगरागाद्यथा यूनो बालक्रीड़ाखिला ह्रिये ।
धर्मे यूनस्तथा धर्मरागेणासत्क्रिया ह्रिये ॥१९॥

भावार्थ : जैसे युवक को भोग के राग (आसक्ति) के कारण बाल्यक्रीड़ा लज्जाकारक लगती है, वैसे ही धर्म के

सम्बन्ध में यौवनप्राप्त पुरुष को धर्म के प्रति अनुराग के कारण असत्क्रिया लज्जाजनक लगती है ॥१९॥

चतुर्थं चरमावर्ते तस्माद् धर्मानुरागतः ।
अनुष्ठानं विनिर्दिष्टं बीजादिक्रमसंगतम् ॥२०॥

भावार्थ : इसलिए चरमावर्तकाल में धर्म के प्रति अनुराग के कारण बीज आदि के क्रम से युक्त चौथा (तद्धेतु) अनुष्ठान बताया है ॥२०॥

बीजं चेह जनान् दृष्टवा शुद्धनुष्ठानकारिणः ।
बहुमान–प्रशंसाभ्यां चिकीर्षा शुद्धगोचरा ॥२१॥

भावार्थ : जिनशासन के सन्दर्भ में शुद्ध अनुष्ठानकर्ता मनुष्यों को देखकर उनके बहुमान, प्रशंसा एवं सत्कार द्वारा शुद्ध विषय वाली क्रिया करने की इच्छा ही यहाँ बीज है ॥२१॥

तस्या एवानुबन्धश्चाकलंकः कीर्त्यतेऽङ्कुरः ।
तद्धेत्वन्वेषणा चित्रा स्कन्धकल्पा च वर्णिता ॥२२॥

भावार्थ : उस शुद्ध अनुष्ठान को करने की इच्छा के निष्कलंक अनुबन्ध को ही अंकुर कहते हैं। और उसके हेतु की विविध प्रकार की गवेषणा को स्कन्धरूप बताया है ॥२२॥

प्रवृत्तिस्तेषु चित्रा च पत्रादिसदृशी मता ।
पुष्पं च गुरुयोगादिहेतुसम्पत्तिलक्षणम् ॥२३॥

भावार्थ : उन अनुष्ठानों में विचित्र प्रकार की प्रवृत्ति को ही पत्रादिसदृशी मानी गई है तथा गुरुसमागम आदि कारणों से समृद्धि प्राप्त करने को पुष्परूप कहा है ॥२३॥

भावधर्मस्य सम्पत्तिर्या सद्देशनादिना ।
फलं तदत्र विज्ञेयं नियमान्मोक्षसाधकम् ॥२४॥

भावार्थ : तथा सद्देशना आदि के रूप में जो भावधर्म की प्राप्ति होती है, उसी को यहाँ निश्चय से मोक्षसाधक फल समझना चाहिए ॥२४॥

सहजो भावधर्मो हि सुगन्धश्चन्दनगन्धवत् ।
एतद्गर्भमनुष्ठानममृतं सम्प्रचक्षते ॥२५॥

भावार्थ : चन्दन की सुगन्ध की तरह जो सहज और शुद्ध भावधर्म है, उस भाव धर्म से मिश्रित (तद्गर्भित) अनुष्ठान ही अमृतानुष्ठान कहलाता है ॥२५॥

जैनीमाज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदुः ॥२६॥

भावार्थ : जिनेश्वर की आज्ञा को समक्ष रखकर चित्तशुद्धिपूर्वक जो कार्य अत्यन्त संवेग के साथ प्रवृत्त होता हो, उसे ज्ञानी पुरुष (तीर्थंकर आदि) अमृतानुष्ठान कहते हैं ॥२६॥

शास्त्रार्थालोचनं सम्यक् प्रणिधानं च कर्मणि ।
कालाद्यंगाविपर्यासोऽमृतानुष्ठानलक्षणम् ॥२७॥

भावार्थ : भलीभांति शास्त्रों के अर्थ का चिन्तन, क्रिया के विषय में मन की एकाग्रता तथा कालादि अंगों का अविपर्यास, ये अमृतानुष्ठान के लक्षण हैं ॥२७॥

द्वयं हि सदनुष्ठानं त्रयमत्रासदेव च ।
तत्रापि चरमं श्रेष्ठं मोहोग्रविषनाशनात् ॥२८॥

भावार्थ : इन पाँच प्रकार के अनुष्ठानों में अन्तिम दो अनुष्ठान सत् हैं और पहले के तीन असत् हैं। उन अन्तिम दो अनुष्ठानों में भी अन्तिम अनुष्ठान मोहरूपी उग्र विष का नाशक होने से श्रेष्ठ है ॥२८॥

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥२९॥

भावार्थ : आदर, क्रिया करने में प्रीति, अविघ्न, ज्ञानादि सम्पत्ति की प्राप्ति, जिज्ञासा और उसके विज्ञों की सेवा, ये सद्नुष्ठान के लक्षण हैं ॥२९॥

भेदैर्भिन्नं भवेदिच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभिः ।
चतुर्विधमिदं मोक्षयोजनाद् योगसंज्ञितम् ॥३०॥

भावार्थ : इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि इस प्रकार चार भेदों से युक्त तथा जीव को मोक्ष के साथ योजन करने—जोड़ने वाला होने से यह चतुर्विध योगसंज्ञक अनुष्ठान है ॥३०॥

इच्छा तद्वात्कथा प्रीतियुक्ताऽविपरिणामिनी ।
प्रवृत्तिः पालनं सम्यक् सर्वत्रोपशमान्वितम् ॥३१॥

भावार्थ : योगस्वरूप के दर्शन वाली कथा, विपरिणाम-रहित और प्रीतियुक्त हो, वह इच्छायोग कहलाता है, तथा सर्वत्र उपशम के युक्त, व्रतादि का सम्यक् पालन करना, प्रवृत्तियोग कहलाता है ॥३१॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षादतिचारादिचिन्तया ।
रहितं तु स्थिरं सिद्धिः परेषामर्थसाधकम् ॥३२॥

भावार्थ : सत्क्षयोपशम के उत्कर्ष से अतिचारादि की चिन्तारहित योग स्थिरयोग कहलाता है और दूसरों के अर्थ का साधक सिद्धयोग कहलाता है ॥३२॥

भेदा इमे विचित्राः स्युः क्षयोपशमभेदतः ।
श्रद्धाप्रीत्यादियोगेन भव्यानां मार्गगामिनाम् ॥३३॥

भावार्थ : ये भेद श्रद्धा, प्रीति वगैरह के योग से मार्गानुसारी भव्यजीवों के क्षयोपशम के भेद से विभिन्न प्रकार के होते हैं ॥३३॥

अनुकम्पा च निर्वेदः संवेगः प्रशमस्तथा ।
एतेषामनुभावाः स्युरिच्छादीनां यथाक्रमम् ॥३४॥

भावार्थ : इन इच्छादि योगों के क्रमशः अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम ये चार-चार प्रभाव होते हैं ॥३४॥

कायोत्सर्गादिसूत्राणां श्रद्धामेधादिभावतः ।
इच्छादियोगे साफल्यं देशसर्वव्रतस्पृशाम् ॥३५॥

भावार्थ : कायोत्सर्गादि सूत्रों के प्रति श्रद्धा, मेधा आदि भावनाओं से देशविरति और सर्वविरति वालों का इच्छादि योग में सफलता मिलती है ॥३५॥

गुडखण्डादिमाधुर्यभेदवत् पुरुषान्तरे ।
भेदेऽपीच्छादिभावानां दोषो नार्थान्वयादिह ॥३६॥

भावार्थ : गुड़, खांड (शक्कर) आदि की मधुरता के भेद के समान इस योग में भी इच्छादि भावों को लेकर अलग-अलग पुरुषों में भेद होने पर भी उन इच्छादि पदार्थों के अन्वय (सम्बन्ध) रूप होने से उनमें कोई दोष नहीं ॥३६॥

येषां नेच्छादिलेशोऽपि तेषां त्वेतत्समर्पणे ।
स्फुटो महामृषावाद इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥३७॥

भावार्थ : जिसमें लेशमात्र भी इच्छादि योग न हो, उसे इस शास्त्र को सिखाने से स्पष्टतः महामृषावाद (बड़ा झूठ) लगता है, ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं ॥३७॥

उन्मार्गोत्थापनं बाढ़मसमंजसकारणे ।
भावनीयमिदं तत्त्वं, जानानैर्योगविंशिकाम् ॥३८॥

भावार्थ : असमंजस (अयोग्य या असंगत) कारण का सेवन करने पर यह समझना चाहिए कि उन्मार्ग का उत्थापन

कर दिया है, या जगाया गया है। यह तत्त्व योगविंशिका के ज्ञाताओं के लिए विचारणीय है ॥३८॥

त्रिधा तत्सदनुष्ठानमादेयं शुद्धचेतसा ।
ज्ञात्वा समयसद्भावं लोकसंज्ञां विहाय च ॥३९॥

भावार्थ : अतः शुद्धचित्त वाले साधक को शास्त्र के परमार्थ को जानकर लोकसंज्ञा को छोड़कर शुद्ध चित्त से मन-वचन-काया से शुद्ध क्रिया करनी चाहिए ॥३९॥

॥ इति सदनुष्ठानाधिकारः ॥

• • •

अधिकार ग्यारहवां

[मनःशुद्धि]

उचितमाचरणं शुभमिच्छतां प्रथमतो मनसः खलु शोधनम् ।
गदवतामकृते मलशोधने कमुपयोगमुपैतु रसायनम् ॥१॥

भावार्थ : अपना शुभ आचरण चाहने वाले पुरुषों के लिए सर्वप्रथम मन की शुद्धि करनी उचित है। क्योंकि रोगियों के मल की शुद्धि के बिना कौन-सा रसायन लाभदायक हो सकता है?

परजने प्रसभं किमु रज्यति, द्विषति वा स्वमनो यदि निर्मलम् ।
विरहिणामरतेर्जगतो रतेरपि च का विकृतिर्विमले विधौ ॥२॥

भावार्थ : अगर तुम्हारा मन निर्मल हो तो दूसरे लोग तुम पर राग करें या द्वेष करें, उससे तुम्हारी क्या हानि है ? चन्द्रमा की किरणों को देखने से विरही जनों को अप्रीति होती है और जगत् के अन्य जीवों को प्रीति होती है, इससे निर्मल चन्द्र में क्या विकृति हो सकती है ?

रुचितमाकलयन्नुपस्थितं स्वमनसैव हि शोचति मानवः ।
उपनते स्मयमानसुखः पुनर्भवति तत्र परस्य किमुच्यताम् ?॥३॥

भावार्थ : मनुष्य अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त हुई न जानकर अपने मन में शोक (चिन्ता) करता है, और उस

वस्तु के प्राप्त होते ही पुनः प्रसन्नमुख हो जाता है, तो उसमें दूसरे को कारण कैसे कहा जा सकता है?

चरणयोगघटान् प्रविलोठयन् शमरसं सकलं विकिरत्यधः ।
चपल एष मनः कपिरुच्चकैः रसवणिग्विदधातु मुनिस्तु किम्? ।४।

भावार्थ : यह अत्यन्त चपल मन-रूपी बंदर चारित्र के योगरूपी घड़ों को उलटाकर सारा का सारा शमत्वरस नीचे गिरा देता है, ऐसी दशा में मुनिरूपी रस-व्यापारी क्या करे? ॥४॥

सतत कुट्टितसंयमभूतलोत्थितरजोनिकरैः प्रथयंस्तमः ।
अतिदृढैश्च मनस्तुरगो गुणैरपि नियंत्रित एष न तिष्ठति ॥५॥

भावार्थ : निरन्तर अपने पैरों से खुदे हुए समयरूपी भूतल को उखाड़ने से उड़ी हुई धूलि के पुंज से अन्धेरा-सा फैलाता हुआ मनरूपी घोड़ा अत्यन्त मजबूत रस्सों से जकड़ने पर भी स्थिर नहीं रहता ॥५॥

जिनवचोघनसारमलिम्लुचः कुसुमसायक-पावकदीपकः ।
अहह कोऽपि मनःपवनो बली शुभमतिद्रुमसंततिभंगकृत् ॥६॥

भावार्थ : अहा ! यह मनरूपी पवन अत्यन्त बलवान है, क्योंकि वह जिनवचनरूपी कपूर को उड़ा ले जाता है, कामरूपी अग्नि को प्रज्वलित कर देता है, शुभमतिरूपी वृक्षावली को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥६॥

चरणगोपुरभंगपरः स्फुरत्समयबोधतरूनपि पातयन् ।
भ्रमति यद्यतिमत्तमनोगजः क्व कुशलं शिवराजपथे तदा ।।७।।

भावार्थ : चारित्ररूपी नगरद्वार (सदर दरवाजे) को तोड़ने में तत्पर और स्फुरणा होते हुए सिद्धान्त के बोधरूपी वृक्षों को उखाड़ता हुआ मदोन्मत्त मनरूपी हाथी जहाँ भ्रमण करता हो, वहाँ मोक्षरूपी राजमार्ग में कुशलता कहाँ से हो? कदापि नहीं हो सकती ।।७।।

व्रततरून् प्रगुणीकुरुते जनो, दहति दुष्टमनोदहनः पुनः ।
ननु परिश्रम एष विशेषवान् क्व भविता सुगुणो पवनोदये ।।८।।

भावार्थ : योगिजन इधर व्रतरूपी वृक्षों को सिंचन करके तैयार करता है, उधर दुष्टमनरूपी आग उन्हें जला डालती है, तब सद्गुणरूपी उद्यान के लिए किया गया यह परिश्रम कब विशेष फलदायक हो सकता है? ।।८।।

अनिगृहीतमना विदधत्परां न वपुषा वचसा च शुभत्रियाम् ।
गुणमुपैति विराधनयाऽनया बत दुरन्त भवभ्रममञ्चति ।।९।।

भावार्थ : जिसने मन का निग्रह नहीं किया, ऐसा साधक इस शरीर और वचन से चाहे जितनी शुभ क्रिया कर ले, यह मन की इस विराधना के कारण कुछ भी गुणवत्ता को प्राप्त नहीं करता, बल्कि दुरन्त संसार-परिभ्रमण को ही प्राप्त करता है ।।९।।

अनिगृहीतमना कुविकल्पतो नरकमृच्छति तन्दुलमत्स्यवत् ।
इयमभक्षणजा तदजीर्णतानुपनतार्थविकल्पकदर्थना ॥१०॥

भावार्थ : मन का निग्रह न करने वाला मनुष्य खराब विकल्पों के कारण तन्दुलमत्स्य की तरह नरक में जाता है । वह नरकगमनरूपी विडम्बना अप्राप्त पदार्थों के विकल्पों के द्वारा दी गई है, जो भोजन किये बिना ही उत्पन्न हुए अजीर्ण (अपच) की तरह है ॥१०॥

मनसि लोलतरे विपरीततां, वचननेत्रकरेङ्गितगोपना ।
व्रजति धूर्ततया ह्यनयाऽखिलं निबिड़दम्भपरैर्मुषितं जगत् ॥११॥

भावार्थ : यदि मन अत्यन्त चंचल होता है, तो वचन, नेत्र, हाथ और शरीर की चेष्टाओं का जो गोपन (छिपाव) करना पड़ता है, वह गुप्ति विपरीतता को ही लाती है । अत्यन्त गूढ़ दाम्भिक पुरुषों ने इसी प्रकार की धूर्त्तता करके सारे जगत् को ठगा है ॥११॥

मनस एव ततः परिशोधनं नियमतो विदधीत महामतिः ।
इदमभेषजसंवननं मुनेः परपुमर्थरतस्य शिवश्रियः ॥१२॥

भावार्थ : इसलिए बुद्धिमान पुरुष को अवश्यमेव मन की परिशुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि मन की शुद्धि परमपुरुषार्थ (मोक्ष) में रत मुनि के लिए मुक्तिलक्ष्मी को वश में करने के हेतु औषधरहित वशीकरण है ॥१२॥

प्रवचनाब्जविलास-रविप्रभा प्रशमनीरतरंगतरंगिणी ।
हृदयशुद्धिरूदीर्णमदज्वर-प्रसरनाशविधौ परमौषधम् ॥१३॥

भावार्थ : हृदय की शुद्धि प्रवचनरूपी कमल का विकास करने में सूर्य की प्रभा के समान है । प्रशमजल के तरंगों वाली सरिता है और उदयप्राप्त आठ प्रकार के मदरूपी ज्वर के प्रसार (फैलाव) को मिटाने के लिए महान् रसायण (औषध) के समान है ॥१३॥

अनुभवामृतकुण्डमनुत्तरव्रत-मरालविलासपयोजिनी ।
सकलकर्मकलंकविनाशिनी, मनस एव हि शुद्धिरुदाहृता ॥१४॥

भावार्थ : अनुभवरूपी अमृत के कुण्ड के समान महाव्रतरूपी राजहंस के क्रीड़ा करने की कमलिनी के समान तथा समस्त कर्म-कलंक का नाश करने वाली एकमात्र मन की शुद्धि ही कही गई है ॥१४॥

प्रथमतो व्यवहारनयस्थितोऽशुभविकल्पनिवृत्तिपरो भवेत् ।
शुभविकल्पमयव्रतसेवया हरति कण्टक एव हि कण्टकम् ॥१५॥

भावार्थ : मनःशुद्धि करने के लिए सर्वप्रथम व्यवहारनय में रहकर अशुभ विकल्पों से निवृत्ति के लिए शुभ विकल्पमय महाव्रतों के पालन—आराधन (अर्थात् जीवरक्षा, तप, जप, महाव्रतपालन, अनुष्ठान आदि) में तत्पर हो जाना चाहिए । जैसे कांटा काँटे से निकलता है, वैसे अशुभ

विकल्परूपी काँटे को शुभविकल्पप्रवृत्तिरूपी बढ़िया काँटे से निकालने में कोई दोष नहीं है ॥१५॥

विषमधीत्य पदानि शनैः शनैर्हरति मंत्रपदावधि मांत्रिकः ।
भवति देशनिवृत्तिरपि स्फुटा गुणकरी प्रथमं मनसस्तथा ॥१६॥

भावार्थ : जैसे मांत्रिक मंत्र के पदों की समाप्ति तक धीरे-धीरे मंत्रपदों को बोलकर विषहरण कर देता है, जहर उतार देता है; वैसे ही मन की देश (अंश) से निवृत्ति भी स्पष्टरूप से गुणकारी होती है ॥१६॥

च्युतमसद्विषयव्यवसायतो लगति यत्र मनोऽधिकसौष्ठवात्।
प्रतिकृतिः पदमात्मवदेव वा तदवलंबनमत्र शुभं मतम् ॥१७॥

भावार्थ : अशुभ (असद्) विषयों के व्यापार से निवृत्त मन अतिप्रसन्नता के कारण जिस पदार्थ में लग जाता है यानी तन्मय हो जाता है, वह पदार्थ भी आत्मा की तरह अथवा परमात्मा की प्रतिकृति की तरह इस मनःशुद्धि में शुभ अवलम्बनरूप माना गया है ॥१७॥

तदनु काचन निश्चयकल्पना विगलितव्यवहारपदावधिः ।
न किमपीति विवेचनसम्मुखी भवति सर्वनिवृत्तिसमाधये ॥१८॥

भावार्थ : उसके बाद '**मेरे लिए व्यवहार किसी काम का नहीं है**', इस प्रकार का विवेचन करने में सम्मुख तथा जिसमें व्यवहार के पदों (स्थानों) का अन्तिम सिरा भी समाप्त

हो गया है, इस प्रकार की कोई अपूर्व (अद्भुत) निश्चयनय की कल्पना संपूर्णरूप से निवृत्ति की समाधि के लिए होती है ॥१८॥

इह हि सर्वबहिर्विषयच्युतं हृदयमात्मनि केवलमागतम् ।
चरणदर्शनबोध-परम्परापरिचितं प्रसरत्यविकल्पकम् ॥१९॥

भावार्थ : इस निर्विकल्पक दशा में मन समस्त बाह्यविषयों से रहित, केवल आत्मा के विषय में ही लीन, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की परम्परा से अभ्यस्त तथा विकल्पों के प्रसार से रहित हो जाता है ॥१९॥

तदिदमन्यदुपैत्यधुनाऽपि नो, नियतवस्तुविलास्यपि निश्चयात्।
क्षणमसंगमुदीतनिसर्गधीहतबहिर्ग्रहमन्तरुदाहृतम् ॥२०॥

भावार्थ : इस प्रकार अब भी योगी का मन नियतवस्तु (चैतन्य) के विषय में विलासी होने पर भी निश्चयस्वभाव के कारण अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि ऐसी निश्चयनय की अवस्था में चित्त में क्षणभर भी असंग तथा उदितनिसर्गबुद्धि द्वारा बहिर्मुखी ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥२०॥

कृतकषायजयः गभीरिम प्रकृतिशान्तमुदात्त उदारधीः ।
स्वमनुगृह्य मनोऽनुभवत्यहो गलितमोहतमः परमं महः ॥२१॥

भावार्थ : क्रोधादि कषायों पर विजय पाने वाला उदारबुद्धि साधक अपने चित्त को अनुकूल बनाकर गंभीरतायुक्त, प्रकति से शान्त, उदात्त, मोहान्धकार के नाश से

युक्त परम ज्योतिर्मय जो आत्मस्वरूप है, उसका अनुभव करता है ॥२१॥

गलितदुष्टविकल्पपरम्परं धृतविशुद्धिमनो भवतीदृशम् ।
धृतिमुपेत्य ततश्च महामतिः समधिगच्छति शुभ्रयशःश्रियम् ॥२२॥

भावार्थ : जिसके मन ने विशुद्धि धारण कर ली है, उसके मन में दुष्ट विकल्पों की परम्परा समाप्त हो जाती है, उसके बाद वह महाबुद्धिमान योगी धैर्य धारण करके उज्ज्वल यशोलक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) प्राप्त कर लेता है ॥२२॥

इति श्रीमहोपाध्याय-यशोविजयगणि-विरचिते ।
अध्यात्मसार-प्रकरणे तृतीयः प्रबन्धः ॥३॥

• • •

अधिकार बारहवाँ

[सम्यक्त्व]

मनःशुद्धिश्च सम्यक्त्वे सत्येव परमार्थतः ।
तद्विना मोहगर्भा सा प्रत्यपायानुबन्धिनी ॥१॥

भावार्थ : सम्यक्त्व के होने पर ही परमार्थतः (वस्तुतः) मन की शुद्धि होती है । सम्यक्त्व के बिना हुई मनःशुद्धि मोहगर्भित तथा प्रत्यपाय से सम्बन्धित होती है ॥१॥

सम्यक्त्वसहिता एव शुद्धा दानादिकाः क्रियाः ।
तासां मोक्षफले प्रोक्ता यदस्य सहकारिता ॥२॥

भावार्थ : दान आदि समस्त क्रियाएँ सम्यक्त्वसहित हों, तभी वे शुद्ध हो सकती हैं, क्योंकि उन क्रियाओं के मोक्षरूपी फल में यह सम्यक्त्व सहयोगी-सहकारी हैं ॥२॥

कुर्वाणोऽपि क्रियां ज्ञाति-धन-भोगांस्त्यजन्नपि ।
दुःखस्योरो ददानोऽपि नान्धो जयति वैरिणः ॥३॥

भावार्थ : अन्धा मनुष्य चाहे जितनी क्रियाएँ (शारीरिक चेष्टाएँ) कर ले, वह अपनी जाति, धन और भोगों का भी त्याग कर दे, तथा कष्टों को अपने हृदय में स्थान दे दे (यानी कितने ही दुःख सह ले) तो भी वह शत्रु को जीत नहीं सकता ॥३॥

कुर्वन्निवृत्तिमप्येवं कामभोगास्त्यजन्नपि ।
दुःखस्योरो ददानोऽपि मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति ।।४।।

भावार्थ : इसी प्रकार निवृत्ति (संतोष) करता हुआ, कामभोगों का त्याग करता हुआ और दुःख में भी हृदय स्थान देता हुआ, मिथ्यादृष्टि सिद्ध (मुक्त) नहीं होता ।।४।।

कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारं सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ।।५।।

भावार्थ : आँखों में पुतली की तरह एवं पुष्प में सुगन्ध की तरह सभी धर्मकार्यों का सार सम्यक्त्व है ।।५।।

तत्त्वश्रद्धानमेतच्च गदितं जिनशासने ।
सर्वे जीवा न हन्तव्याः, सूत्रे तत्त्वमीतिष्यते ।।६।।

भावार्थ : जिनशासन में इस सम्यक्त्व को तत्त्वश्रद्धानरूप कहा है और 'समस्त जीवों को नहीं मारना चाहिए' इसे तत्त्व के रूप में शास्त्र में प्रतिपादित किया है ।।६।।

शुद्धो धर्मोऽयमित्येतदधर्म रुच्यात्मकं स्थितम् ।
शुद्धानामिदमन्यासां रुचीनामुपलक्षणम् ।।७।।

भावार्थ : यह (अहिंसारूप) धर्म शुद्ध (निर्दोष) है और यही (श्रद्धान) धर्मरुचिरूप श्रद्धान अन्य शुद्ध रुचियों का उपलक्षण है ।।७।।

अथवेदं यथातत्त्वमाज्ञयैव तथाऽखिलम् ।
नवानामपि तत्त्वानामिति श्रद्धोदितार्थतः ॥८॥

भावार्थ : अथवा जैसे यह अहिंसारूप तत्त्व आज्ञारूप कहा है, इसी प्रकार जीवादि नौ तत्त्वों पर भी श्रद्धा करने, आज्ञा आदि रुचियों द्वारा जानने को भी सम्यक्त्व कहा है ॥८॥

इहैव प्रोच्यते शुद्धाऽहिंसा वा तत्त्वमित्यतः ।
सम्यक्त्वं दर्शितं सूत्रप्रामाण्योपगमात्मकम् ॥९॥

भावार्थ : शुद्ध अहिंसा अथवा शुद्धतत्त्व जिनप्रणीत आगमों में ही कहा गया है, इस प्रकार सूत्र के प्रमाणत्व के स्वीकार करने को भी सम्यक्त्व कहा है ॥९॥

शुद्धाहिंसोक्तितः सूत्रप्रामाण्यं तत एव च ।
अहिंसाशुद्धधीरेवमन्योन्याश्रयभीर्ननु ॥१०॥

भावार्थ : (सूत्र में) शुद्ध अहिंसा की उक्ति होने से सूत्र की प्रमाणता सिद्ध होती है, और उसी को लेकर प्राणी अहिंसा के प्रति शुद्ध बुद्धि वाला होता है; इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष का खतरा नहीं रहता ॥१०॥

नैवं यस्मादहिंसायां सर्वेषामेकवाक्यता ।
तच्छुद्धतावबोधश्च संभवादिविचारणात् ॥११॥

भावार्थ : चूँकि संभव (हिंसा की उत्पत्ति, हिंसक, हिंस्य) आदि का विचार करने पर अहिंसा के सम्बन्ध में सभी

मतों की एकवाक्यता नहीं होती। तथा अहिंसा की शुद्धता (विराधना के परिहार) का उपाय और ज्ञान भी उन-उन (अन्य) शास्त्रों से नहीं होता ॥११॥

यथाऽहिंसादयः पञ्च व्रतधर्मयमादिभिः ।
पदैः कुशलधर्माद्यैः कथ्यन्ते स्व-स्वदर्शने ॥१२॥

भावार्थ : अन्यदर्शन वाले अपने-अपने दर्शन में अहिंसादि पाँचों को व्रत, धर्म, यम आदि शब्दों से तथा कुशलधर्म आदि शब्दों से जिस-जिस रूप में पुकारते हैं, उसे आगे बताते हैं ॥१२॥

प्राहुर्भागवतास्तत्र व्रतोपव्रतपञ्चकम् ।
यमांश्च नियमान् पाशुपता धर्मान् दशाऽभ्यधुः ॥१३॥

भावार्थ : इन सभी दर्शनों में भागवतमत वाले पाँच व्रत और पाँच उपव्रत, यों दस मानते हैं, तथा पाशुपतमत वाले पाँच यम और पाँच नियम, इस प्रकार दस धर्म को मानते हैं ॥१३॥

अहिंसा सत्यवचनमस्तैन्यं चाप्यकल्पना ।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो ह्यार्जवं शौचमेव च ॥१४॥
संतोषो गुरुशुश्रूषा इत्येते दश कीर्तिताः ।
निगद्यन्ते यमाः सांख्यैरपि व्यासानुसारिभिः ॥१५॥

भावार्थ : आहिंसा, सत्यवचन, अचौर्य, अकल्पना (निष्परिग्रह) और ब्रह्मचर्य तथा अक्रोध, आर्जव, शौच,

सन्तोष एवं गुरुशुश्रूषा, ये दस कहे गए हैं। इनमें से पहले के पाँचों को व्यासमार्गानुगामी व सांख्यमत वाले यम के रूप में मानते हैं ॥१४-१५॥

अहिंसासत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यं तुरीयकम् ।
पंचमो व्यवहारश्चेत्येते पंच यमाः स्मृताः ॥१६॥

भावार्थ : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, चौथा ब्रह्मचर्य और पाँचवाँ व्यवहार (परिग्रहत्याग), ये पाँच यम कहे गए हैं ॥१६॥

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः ॥१७॥

भावार्थ : अक्रोध (क्षमा), गुरुशुश्रुषा, शौच, (शरीरादि की पवित्रता) आहार की लघुता (अल्पाहार) तथा अप्रमाद (अकार्य में प्रवृत्ति, कार्य से निवृत्तिरूप प्रमाद अथवा असावधानीरूप प्रमाद का त्याग) ये पाँचों नियम कहलाते हैं ॥१७॥

बौद्धैः कुशलधर्माश्च दशेष्यन्ते यदुच्यते ।
हिंसाऽस्तेयाऽन्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम् ॥१८॥
संभिन्नालापव्यापादमभिध्या - दृग्विपर्ययम् ।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्-मानसैस्त्यजेत् ॥१९॥

भावार्थ : बौद्ध दश कुशलधर्मों को मानते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—हिंसा, अस्तेय, अन्यथा काम (दुष्ट परिणाम से परस्त्री के साथ मैथुन-सेवन करना) पैशुन्य (चुगली), परुषानृत (मन-वचन द्वारा कठोर और असत्य बोलना),

संभिन्नालाप (परमर्मभेदी असम्बद्ध प्रलाप), व्यापाद (द्रोह का चिन्तन), अभिध्या (परधन हरण करने की इच्छा), और दृग्विपर्यय (कुशलधर्म से विपरीतदृष्टि); इस प्रकार दश प्रकार के पापकर्मों (पापबन्धकर्ता कर्मों) का मन, वचन और काया से त्याग करना चाहिए ॥१८-१९॥

ब्रह्मादिपदवाच्यानि तान्याहुर्वैदिकादयः ।
अतः सर्वैकवाक्यत्वाद्धर्मशास्त्रमदोऽर्थकम् ॥२०॥

भावार्थ : वैदिक आदि मत वाले अहिंसा आदि को ब्रह्म आदि पद से वाच्य करते हैं (पुकारते हैं), उन सबका एक ही वाच्यार्थ होने से यह धर्मशास्त्र सार्थक है ॥२०॥

क्व चैतत्सम्भवो युक्त इति चिन्त्यं महात्मना ।
शास्त्रं परीक्षमाणेनाव्याकुलेनाऽन्तरात्मना ॥२१॥

भावार्थ : यह अहिंसादि धर्म का संभव (उत्पत्ति) किस शास्त्र में कहा हुआ युक्त (उचित) है? इसके लिए परीक्षा करने वाले महात्मा को अव्यग्रचित्त से शास्त्र पर चिन्तन (विचार) करना चाहिए ॥२१॥

प्रमाणलक्षणादेस्तु नोपयोगोऽत्र कश्चन ।
तन्निश्चयेऽनवस्थानादन्यथार्थस्थितेर्यतः ॥२२॥

भावार्थ : इस प्रकार की शास्त्रपरीक्षा में प्रमाण एवं लक्षण आदि कोई भी उपयोग नहीं होता; क्योंकि जीवादि

पदार्थों की उससे अन्यथा स्थिति होने के कारण उसका निश्चय करने में अनवस्थादोष उत्पन्न होने की सम्भावना है ॥२२॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥२३॥

भावार्थ : समस्त प्रमाण प्रसिद्ध हैं । उनके द्वारा किया जाने वाला व्यवहार भी प्रसिद्ध है । इसलिए प्रमाण को लक्षण बताना यहाँ निष्प्रयोजन है ॥२३॥

तत्राऽत्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।
हिंसादयः कथं तेषां कथमप्यात्मनोऽव्ययात् ॥२४॥

भावार्थ : 'आत्मा नित्य ही है' ऐसा जिनका एकान्त मत है, उनकी दृष्टि से आत्मा का कभी नाश (घात) न होने के कारण हिंसादि किस प्रकार घटित हो सकते हैं ? नहीं हो सकते ! ॥२४॥

मनोयोगविशेषस्य ध्वंसो मरणमात्मनः ।
हिंसा तच्छेन्न तत्त्वस्य सिद्धेरार्थसमाजतः ॥२५॥

भावार्थ : मन तथा उसके व्यापार का विनाश ही आत्मा की मृत्यु है । इसलिए वही हिंसा है । परन्तु इसके उत्तर में सिद्धान्तवादी (जैन) कहते हैं, यदि इसे ही हिंसा कही जाए तो यह कथन भी अयथार्थ है, सिद्ध नहीं होता, आपके कथन से भी । क्योंकि इस प्रकार तो आर्थ (सद्भूत परमार्थ) के हिंसाभावस्वरूप तत्त्व की सिद्धि होती है । हिंसक और

हिंसनीय का संयोग होने से हुई हिंसा की उत्पत्ति से उसकी सिद्धि होती है। और उसकी सिद्धि होने से सद्भूत हिंसा सिद्ध होती है, परमार्थहिंसा मनोयोग का नाश होने से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि मन जड़ है, वह आत्मा से भिन्न भी है। अतः मन का नाश होने से आत्मा का क्या बिगड़ता है? कुछ भी नहीं। जड़वस्तु की हिंसा होती ही नहीं और जड़वस्तु की कोई हिंसा कहलाती नहीं। क्योंकि उसे शस्त्रादि के प्रहार से कुछ भी नहीं होता। तथा मनोयोग हिंस्य और हिंसक कैसे हो सकता है? उसके निमित्त से मन को पापकर्मों का बन्ध, होता है, ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मन जड़ है। यदि जड़ वस्तु को भी हिंस्य-हिंसक कहा जाय तो फिर किसी को भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। अचित्त अन्न-वस्त्रादि जड़पदार्थों से भी मन के नाश की तरह हिंसाकारित्त्व प्राप्त होने से मोक्ष होगा ही नहीं। तथा मनरहित जो एकेन्द्रिय जीव हैं, उनका मरण ही नहीं होगा, क्योंकि मनोयोग के नाश का अभाव है। यदि मन को हिंसक कहेंगे तो सारे जगत् का जीना ही कठिन हो जाएगा; क्योंकि सबका मन जड़ है ॥२५॥

नैति बुद्धिगताः दुःखोत्पादरूपेयमौचितीम् ।
पुंसि भेदाग्रहात्तस्याः परमार्थाव्यवस्थितेः ॥२६॥

भावार्थ : दुःख को उत्पन्न करने वाली बुद्धि में स्थित यह हिंसा भी उचित नहीं, क्योंकि बुद्धि को पुरुष (आत्मा) से

अत्यन्त भिन्न माना है । इसलिए परमार्थतः (वस्तुतः) यहाँ भी हिंसा की व्यवस्था नहीं हो सकती ॥२६॥

न च हिंसापदं नाशपर्यायं कथमप्यहो !
जीवस्यैकान्तनित्यत्वेऽनुभवाबाधकं भवेत् ॥२७॥

भावार्थ : अहो ! जीव को एकान्त नित्य मानने से नाश का पर्यायरूप हिंसा शब्द किसी प्रकार से भी अनुभव का अबाधक नहीं होगा । मतलब यह है कि वह अनुभव का बाधक ही होगा ॥२७॥

शरीरेणाऽपि सम्बन्धो नित्यत्वेऽस्य न संभवी ।
विभुत्वे न च संसारः कल्पितः स्यादसंशयम् ॥२८॥

भावार्थ : जीवात्मा को यदि नित्य मानें तो उसका शरीरादि के साथ सम्बन्ध संभव नहीं है । इसे विभु-सर्वव्यापक मानें तो निःसंदेह यह संसार कल्पित नहीं हो सकेगा ॥२८॥

अदृष्टाद्देहसंयोगः स्यादन्यतरकर्मजः ।
इत्थं जन्मोपपत्तिश्चेन्न तद्योगाविवेचनात् ॥२९॥

भावार्थ : अदृष्ट से किसी भी कर्म से उत्पन्न देह का संयोग हो सकता है, (इसलिए आत्मक्रिया की कोई अपेक्षा नहीं रहती) इस पर जैन सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि यदि इस प्रकार जन्म की संगति बिठाना चाहोगे तो वह संभव नहीं हो

सकेगी, क्योंकि उस शरीर के योग का ज्ञान (उन कर्मों को) नहीं है। अतः आत्मक्रिया के बिना देह का संयोग हो ही नहीं सकता ॥२९॥

आत्मक्रियां विना च स्यान्मिताणुग्रहणं कथम् ?
कथं संयोगभेदादिकल्पना चापि युज्यते ॥३०॥

भावार्थ : आत्मा में क्रिया न हो तो उस आत्मा से परिचित परमाणुओं का ग्रहण कैस होगा ? नहीं हो सकेगा। तथा संयोग और भेद वगैरह की कल्पना भी उसमें कैसे युक्तियुक्त होगी? नहीं होगी ॥३०॥

कथंचिन्मूर्ततापत्तिंविना वपुरसंक्रमात् ।
व्यापारायोगतश्चैव यत्किञ्चित्तदिदं जगुः ॥३१॥

भावार्थ : शरीर के बिना भी उसमें संक्रम न होने से आत्मा को किसी भी प्रकार से मूर्तता की प्राप्ति हो जाएगी। यह जो प्रतिवादी ने बात कही है, वह तथ्यहीन है, क्योंकि उस आत्मा के व्यापार का ही अयोग है ॥३१॥

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित् ।
किञ्चित्केनचिदित्येव न हिंसाऽस्योपपद्यते ॥३२॥

भावार्थ : इस प्रकार आत्मा निष्क्रिय होने से यह कदापि किसी को मारता नहीं और न किसी के द्वारा मारा जाता है। इसलिए इस (नित्य) आत्मा को हिंसा प्राप्त नहीं होती ॥३२॥

अनित्यैकान्तपक्षेऽपि हिंसादीनामसम्भवः ।
नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य साधनात् ॥३३॥

भावार्थ : एकान्त अनित्यपक्ष में भी हिंसा आदि की सम्भावना नहीं है । क्योंकि क्षणिकता को सिद्ध करने से नाश के कारण का अयोग है, अर्थात् नाश का कारण नहीं रहता ॥३३॥

न च सन्तानभेदस्य जनको हिंसको भवेत् ।
सांवृतत्वादजन्यत्वाद् भावत्वनियतं हि यत् ॥३४॥

भावार्थ : सन्तानपरम्परा का भेद (नाश) करने वाला हिंसक होगा, यह कहना भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह हिंसक तो सिर्फ विद्यमानता में ही रहता है, तथा अजन्य यानी सन्तान का जनक-उत्पादक नहीं है तथा वह सन्तान सिर्फ उत्पत्ति में ही निश्चित है । इसलिए उसे हिंसा कहना अययार्थ है, वह हिंसा ही नहीं है ॥३४॥

नरादिक्षणहेतुश्च शूकरादेर्न हिंसकः ।
शूकरान्त्यक्षणेनैव व्यभिचारप्रसंगतः ॥३५॥

भावार्थ : मनुष्य आदि (हिंसक) तो एक क्षणमात्र का हेतु है, सूअर आदि (हिंस्य) का हिंसक वह रहता नहीं है । क्योंकि सूअर के अन्तिम क्षण तक वह मनुष्य रहता ही नहीं है । इसलिए सूअर मारने वाला कौन है? यदि कहो कि मनुष्य है तो सूअर से अन्तिम क्षण के साथ व्यभिचारदोष का प्रसंग आता है ॥३५॥

अनन्तरक्षणोत्पादे बुद्धलुब्धकयोस्तुला ।
नैवं तद्विरतिः क्वापि ततः शास्त्राद्यसंगतिः ॥३६॥

भावार्थ : अनन्तर क्षण में उत्पत्ति मानने पर बुद्ध और शिकारी दोनों की समानता दिखाई देगी । और ऐसा होने से कहीं भी विरति नहीं होगी और इससे शास्त्रादि भी असंगत होंगे ॥३६॥

घटन्ते न विनाऽहिंसा, सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।
एतस्या वृत्तिभूतानि तानि यद्भगवान् जगौ ॥३७॥

भावार्थ : अहिंसा के बिना सत्य आदि भी तत्त्वतः घटित नहीं होते; क्योंकि सत्य आदि तो अहिंसा की रक्षा के लिए बाड़रूप हैं, इस प्रकार जिनेश्वर भगवान् ने कहा है ॥३७॥

मौनीन्द्रे च प्रवचने युज्यते सर्वमेव हि ।
नित्यानित्ये स्फुटं देहाद् भिन्नाभिन्ने तथात्मनि ॥३८॥

भावार्थ : जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन में आत्मा नित्य तथा अनित्य है, देह से भिन्न भी है, अभिन्न भी है, इसलिए इसमें अहिंसा आदि सब स्पष्टरूप से घटित हो जाते हैं ॥३८॥

आत्मा द्रव्यार्थतो नित्यः पर्यायार्थाद्विनश्वरः ।
हिनस्ति, हिंस्यते तत्तत्फलान्यप्यधिगच्छति ॥३९॥

भावार्थ : आत्मा द्रव्यार्थदृष्टि से नित्य है और पर्यायार्थदृष्टि से विनश्वर (अनित्य) है । इस कारण वह दूसरों

का हनन करता है और स्वयं दूसरों से हनन भी किया जाता है और उस-उस फल को भी प्राप्त करता (भोगता) है ॥३९॥

इह चानुभवः साक्षी व्यावृत्त्यन्वयगोचरः ।
एकान्तपक्षपातिन्यो युक्तयस्तु मिथो हताः ॥४०॥

भावार्थ : इस विषय में अन्वय और व्यतिरेक के विषयवाला अनुभव ही साक्षी है और एकान्तवाद की पक्षपातिनी युक्तियाँ तो परस्पर कट जाती हैं ॥४०॥

पीड़ाकर्तृत्त्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावतः ।
त्रिधा हिंसागमे प्रोक्ता नहीत्थमपहेतुका ॥४१॥

भावार्थ : दूसरों को पीड़ा देने से, स्वयं देह को नष्ट करने से और दुष्ट परिणाम से; यों तीन प्रकार की हिंसा जिनागम में कही गई है । इस प्रकार मानने से वह हिंसा अहेतुक या कोरी काल्पनिक नहीं है, अपितु सहेतुक है ॥४१॥

हन्तुर्जाग्रति को दोषो हिंसनीयस्य कर्मणि ।
प्रसक्तिस्तदभावे चान्यत्रापि मुधा वचः ॥४२॥

भावार्थ : हिंस्य जीव का कर्म उदय में आने से उसका वध होता है, उसमें हिंसक का क्या दोष ? और उस हिंसक के अभाव में दूसरे किसी हिंसक की हिंसा करनी ही पड़ती, इस प्रकार यदि कोई कहता है तो व्यर्थ का बकवास है ॥४२॥

हिंस्यकर्मविपाकेयं दुष्टाशयनिमित्तता ।
हिंसकत्वं न तेनेदं वैद्यस्य स्याद्रिपोरिव ॥४३॥

भावार्थ : दुष्ट अध्यवसाय के निमित्त से होने वाली यह हिंसा हिंस्य जीव के कर्मविपाकरूप है, इस कारण शत्रु की तरह वैद्य को यह हिंसकपन प्राप्त नहीं होता ॥४३॥

इत्थं सदुपदेशादेस्तन्निवृत्तिरपि स्फुटा ।
सोपक्रमस्य पापस्य नाशात् स्वाशयवृद्धितः ॥४४॥

भावार्थ : इस प्रकार सदुपदेश आदि से, सोपक्रमी पाप के नष्ट होने से और उससे अपने शुभ अध्यवसाय की वृद्धि होने से उस हिंसा से निवृत्ति भी साफ तौर से हो जाती है ॥४४॥

अपवर्गतरोर्बीजं मुख्याऽहिंसेयमुच्यते ।
सत्यादीनि व्रतान्यत्र जायन्ते पल्लवा नवाः ॥४५॥

भावार्थ : अहिंसा मोक्षरूपी वृक्ष का बीज है, इसलिए इसे मुख्य (धर्म) कहा गया है । तथा सत्य आदि व्रत इसी अहिंसावृक्ष के नये-नये अंकुररूप में उत्पन्न होते हैं ॥४५॥

अहिंसा सम्भवश्चेत्थं दृश्यतेऽत्रैव शासने ।
अनुबन्धादिसंशुद्धिरप्यत्रैवास्ति वास्तवी ॥४६॥

भावार्थ : इस प्रकार अहिंसा का संभव इस जिनशासन में ही दिखाई देता है तथा अनुबन्ध वगैरह की शुद्धि भी वास्तविक रूप से जिनशासन में ही है ॥४६॥

हिंसाया ज्ञानयोगेन सम्यग्दृष्टेर्महात्मनः ।
तप्तलोहपदन्यासतुल्याया नानुबन्धनम् ॥४७॥

भावार्थ : सम्यग्दृष्टिसम्पन्न महात्मा को ज्ञान का योग होने से तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी हिंसा का अनुबन्ध (सम्बन्ध) नहीं लगता ॥४७॥

सतामस्याश्च कस्याश्चिद् यतनाभक्तिशालिनाम् ।
अनुबन्धो ह्यहिंसाया जिनपूजादिकर्मणि ॥४८॥

भावार्थ : यतना और भक्ति से सुशोभित सत्पुरुषों (सम्यग्दृष्टि मानवों) को जिनपूजादि क्रियाओं में कभी कुछ हिंसा होती भी है, तो भी उसे अनुबन्ध अहिंसा का ही होता है ॥४८॥

हिंसानुबन्धिनी हिंसा मिथ्यादृष्टेस्तु दुर्मतेः ।
अज्ञानशक्तियोगेन तस्याहिंसाऽपि तादृशी ॥४९॥

भावार्थ : दुष्टबुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि की गृहारम्भादि-जनित हिंसा हिंसानुबन्धी होती है, तथा उसकी अहिंसा भी अज्ञानशक्ति के सम्बन्ध के कारण हिंसा जैसी ही होती है ॥४९॥

येन स्यान्निह्नवादीनां दिविषद्दुर्गतिः क्रमात् ।
हिंसैव महती तिर्यग्नरकादिभवान्तरे ॥५०॥

भावार्थ : यही कारण है कि निह्नवादि की देवलोक में भी दुर्गति होती है । उसके बाद भवान्तर में तिर्यंच, नरक

वगैरह भवों में बड़ी हिंसा प्राप्त होती है, अर्थात् वे जीवहिंसा करने वाले बनते हैं ॥५०॥

साधूनामप्रमत्तानां सा चाहिंसानुबन्धिनी ।
हिंसानुबन्धविच्छेदाद् गुणोत्कर्षो यतस्ततः ॥५१॥

भावार्थ : अप्रमत्त साधुओं से होने वाली हिंसा भी अहिंसानुबन्धी होती है। क्योंकि हिंसा के अनुबन्ध का विच्छेद होने से इसके विपरीत जहाँ-तहाँ से उसके गुणों की वृद्धि होती जाती है ॥५१॥

मुग्धानामियमज्ञानात् सानुबन्धा न कर्हिचित् ।
ज्ञानोद्रेकाप्रमादाभ्यामस्या यदनुबन्धनम् ॥५२॥

भावार्थ : अज्ञानता के कारण भोले-भाले मूढ़ लोगों के लिए वह अहिंसा अनुबन्ध वाली नहीं होती। क्योंकि अहिंसा का अनुबन्ध प्रायः ज्ञान और अप्रमाद से ही होता है ॥५२॥

एकस्यामपि हिंसायामुक्तं सुमहदन्तरम् ।
भाववीर्यादि-वैचित्र्यादहिंसायां च तत्तथा ॥५३॥

भावार्थ : एक ही प्रकार की हिंसा में भी भाव और वीर्य की विचित्रता के कारण बहुत बड़ा अन्तर बताया है, इसी प्रकार अहिंसा में भी अन्तर समझना चाहिए ॥५३॥

सद्यः कालान्तरे चैतद्विपाकेनापि भिन्नता ।
प्रतिपक्षान्तरालेन तथा शक्तिनियोगतः ॥५४॥

भावार्थ : हिंसा और अहिंसा के विपाक की दृष्टि से यह भेद है, कारण, तथा प्रकार की शक्ति के नियोग से प्रतिपक्ष के अन्तराल को लेकर तत्काल या कालान्तर में उसका उदय होता है ॥५४॥

हिंसाऽप्युत्तरकालीन-विशिष्टगुणसंक्रमात् ।
व्यक्ताविध्यनुबन्धत्वादहिंसैवातिभक्तितः ॥५५॥

भावार्थ : धर्मकार्य में विशिष्ट गुणों की प्राप्ति होने से तथा अतिभक्ति से अविधि के अनुबन्ध का त्याग करने से अहिंसा ही कहलाती है ॥५५॥

ईदृग्भंगशतोपेताऽहिंसा यत्रोपवर्ण्यते ।
सर्वांशपरिशुद्धं तत् प्रमाणं जिनशासनम् ॥५६॥

भावार्थ : जिस शासन में इस प्रकार के सैकड़ों भंग (विकल्प)-सहित अहिंसा का वर्णन किया गया है, वह सर्वांश अतिशुद्ध जिनशासन (जिनमत) ही प्रमाणभूत है ॥५६॥

अर्थोऽयमपरोऽनर्थ इति निर्धारणं हृदि ।
आस्तिक्यं परमं चिह्नं सम्यक्त्वस्य जगुर्जिनाः ॥५७॥

भावार्थ : अहिंसा का उपर्युक्त सारे अर्थ—सद्वस्तु हैं, इसके अतिरिक्त सारे अनर्थ—असद्रूप हैं, इस प्रकार हृदय में निश्चय करना सम्यक्त्व का आस्तिक्यरूप उत्कृष्ट चिह्न है, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है ॥५७॥

शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाभिः परिष्कृतम् ।
दधतामेतदच्छिन्नं, सम्यक्त्वं स्थिरतां व्रजेत् ॥५८॥

भावार्थ : शम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा से सुशोभित इस आस्तिक्य को सतत् धारण करने वाले भव्यजीवों का सम्यक्त्व स्थिरता को प्राप्त होता है, अविचल हो जाता है ॥५८॥

॥ इति सम्यक्त्वाधिकारः ॥

• • •

अधिकार तेरहवां

[मिथ्यात्व-त्याग]

मिथ्यात्वत्यागतः शुद्धं सम्यक्त्वं जायतेऽङ्गिनाम् ।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना ॥१॥

भावार्थ : मिथ्यात्व का त्याग करने से प्राणियों को शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त होता है, इसलिए उस मिथ्यात्व के त्याग के लिए महात्मा को प्रयत्न करना चाहिए ॥१॥

नास्ति नित्यो, न कर्ता च, न भोक्तात्मा, न निवृतः ।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ॥२॥

भावार्थ : आत्मा नहीं है, आत्मा एकान्त नित्य है, आत्मा कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मुक्त नहीं है, मुक्ति का उपाय कोई भी नहीं है, इस प्रकार मिथ्यात्व के ६ पद—स्थानक कहे गए हैं ॥२॥

एतैर्यस्माद् भवेच्छुद्ध-व्यवहारविलंघनम् ।
अयमेव च मिथ्यात्व-ध्वंसी सदुपदेशतः ॥३॥

भावार्थ : जिन पूर्वोक्त ६ स्थानकों से शुद्ध व्यवहार का उल्लंघन होता है, वही व्यवहार शुद्ध उपदेश के कारण मिथ्यात्व को नष्ट करने वाला होता है ॥३॥

नास्तित्वादिग्रहे नैवोपदेशो नोपदेशकः ।
ततः कस्योपकारः स्यात् संदेहादिव्युदासतः ।।४।।

भावार्थ : नास्तित्व आदि का आग्रह रहते हुए उपदेश और उपदेशक घटित (उचित) नहीं होते । नास्तित्वादि के उपदेश से संदेह आदि का निराकरण होने पर किसका उपकार होगा? क्योंकि नास्तित्ववाद के अनुसार जब श्रोता आदि ही नहीं हैं, तो वक्ता किसका उपकार करेगा ? ।।४।।

येषां निश्चय एवेष्टो व्यवहारस्तु संगतः ।
विप्राणां म्लेच्छभाषेव स्वार्थमात्रोपदेशनात् ।।५।।

भावार्थ : जैसे ब्राह्मणों के लिए म्लेच्छभाषा बोलने लायक नहीं है, किन्तु अपने स्वार्थ—प्रयोजनमात्र के जितना ही वे उसका प्रयोग करते हैं, वैसे ही जिन्हें निश्चयनय ही इष्ट है, उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश संगत (अनादर करने योग्य) है ।।५।।

यथा केवलमात्मानं जानानः श्रुतकेवली ।
श्रुतेन निश्चयात्सर्वं श्रुतं च व्यवहारतः ।।६।।

भावार्थ : जैसे श्रुतकेवली श्रुत (शास्त्र) द्वारा निश्चय से केवल आत्मा को जानता है । वैसे ही व्यवहार से वह सर्वश्रुत (आगमादि) को जानता है ।।६।।

निश्चयार्थोऽत्र नो साक्षाद् वक्तुं केनाऽपि पार्यते ।
व्यवहारो गुणद्वारा तदर्थावगमक्षमः ।।७।।

भावार्थ : इस जगत् में निश्चयार्थ को कोई भी साक्षात् कहने में समर्थ नहीं है। परन्तु व्यवहारनय उस निश्चय के गुण द्वारा उस (निश्चय) के अर्थ का बोध कराने में समर्थ है ॥७॥

प्राधान्यं व्यवहारे चेत्तत्तेषां निश्चये कथम् ?
परार्थस्वार्थते तुल्ये शब्दज्ञानात्मनोर्द्वयोः ॥८॥

भावार्थ : यदि कोई व्यवहार की प्रधानता बतलाते हैं, तो उन्हें निश्चयनय में प्रधानता कैसे होगी? क्योंकि शब्दात्मक और ज्ञानात्मक इन दोनों का परार्थत्व और स्वार्थत्व तुल्य है ॥८॥

प्राधान्याद् व्यवहारस्य तत्तच्छेदकारिणाम् ।
मिथ्यात्वरूपतैतेषां पदानां परिकीर्तिता ॥९॥

भावार्थ : इसलिए व्यवहार की प्रधानता के कारण व्यवहार का ही उच्छेद करने वाले उन पूर्वोक्त ६ पदों की मिथ्यात्वरूपता कही है ॥९॥

नास्त्यात्मेति चार्वाकः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।
अहंताव्यपदेशस्य शरीरेणोपपत्तितः ॥१०॥

भावार्थ : 'प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता (दिखाई नहीं देता), इसलिए आत्मा है ही नहीं।' और अहंता ('मैं हूँ' इस प्रकार के अहंत्व) का व्यपदेश (कथन) तो शरीर से हो सकता है, इस प्रकार चार्वाक कहता है ॥१०॥

मद्यांगेभ्यो मदव्यक्तिः प्रत्येकमसती यथा ।
मिलितेभ्यो हि भूतेभ्यो ज्ञानव्यक्तिस्तथा मता ॥११॥

भावार्थ : जैसे मद्य के अंगों में से प्रत्येक अंग में मद की अभिव्यक्ति नहीं होती, (सभी अंग मिलने पर ही स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है), वैसे ही पंचमहाभूत एकत्र मिलने पर ज्ञान की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती मानी गई है ॥११॥

राजरंकादिवैचित्र्यमपि नात्मबलाहितम् ।
स्वाभाविकस्य भेदस्य ग्रावादिष्वपि दर्शनात् ॥१२॥

भावार्थ : राजा, रंक आदि विभिन्नता भी आत्मा के बल पर उत्पन्न हुई नहीं है; क्योंकि ऐसा स्वाभाविक भेद तो पाषाण आदि में भी दिखाई देता है ॥१२॥

वाक्यैर्न गम्यते चात्मा परस्परविरोधिभिः ।
दृष्टवान्न च कोऽप्येतं, प्रमाणं यद्वचो भवेत् ॥१३॥

भावार्थ : आगमवाक्यों से भी आत्मा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं तथा किसी ने आत्मा को प्रत्यक्ष देखा भी नहीं कि उसका वचन प्रमाणभूत माना जाय? ॥१३॥

आत्मानं परलोकं च क्रियां च विविधां वदन् ।
भोगेभ्यो भ्रंशयत्युच्चैर्लोकचित्तं प्रतारकः ॥१४॥

भावार्थ : धूर्त्त आदमी आत्मा, परलोक और विविध प्रकार की क्रियाएँ बता (कह) कर लोगों के चित्त को भोगादि से जोरशोर से भ्रष्ट करते हैं ॥१४॥

त्याज्यास्तन्नैहिकाः कामाः कार्या नानागतस्पृहाः ।
भस्मीभूतेषु भूतेषु वृथा प्रत्यागतिस्पृहा ॥१५॥

भावार्थ : इसलिए इस लोक के कामभोगों के सुखों को छोड़कर भविष्य (परलोक) के सुखों की इच्छा (स्पृहा) करना उचित नहीं है; क्योंकि पंचमहाभूतों के जलकर राख हो जाने पर पुनर्जन्म—फिर से लौटकर जन्म लेने की इच्छा व्यर्थ है ॥१५॥

तदेतद्दर्शन मिथ्या, जीवः प्रत्यक्ष एव यत् ।
गुणानां संशयादीनां प्रत्यक्षाणामभेदतः ॥१६॥

भावार्थ : इन–इन कारणों से यह (चार्वाक का) दर्शन मिथ्या है; क्योंकि प्रत्यक्ष संशयादि गुणों के अभेद के कारण जीव (आत्मा) प्रत्यक्ष ही है ॥१६॥

न चाहं प्रत्ययादीनां शरीरस्यैव धर्मता ।
नेत्रादिग्राह्यतापत्तेर्नियतं गौरवादिवत् ॥१७॥

भावार्थ : अहंकार आदि की प्रतीति तो शरीर का धर्म नहीं है। क्योंकि ऐसा हो, तब तो गुरुत्व आदि की तरह नेत्रादि इन्द्रियों की ग्राह्यता की आपत्ति अवश्य होनी चाहिए ॥१७॥

शरीरस्यैव चात्मत्वे नानुभूतस्मृतिर्भवेत् ।
बालत्वादिदशाभेदात् तस्यैकस्यानवस्थितेः ॥१८॥

भावार्थ : शरीर को ही आत्मा मानने पर पूर्व अनुभूत की स्मृति नहीं होगी, क्योंकि बाल्य आदि अवस्थाओं के भेद के कारण वह अकेले शरीर की अनवस्थिति=अस्थिरता है ॥१८॥

नात्माङ्गं विगमेऽप्यस्य तल्लब्धानुस्मृतिर्यतः ।
व्यये गृहगवाक्षस्य तल्लब्धार्थाधिगन्तृवत् ॥१९॥

भावार्थ : तथा शरीर को आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस अंग का नाश हो जाता है, उसके बाद उस अंग से पहले जो कुछ उपलब्ध (जाना) हुआ था, उस पदार्थ का स्मरण हो सकता है । जैसे घर का झरोखा गिर जाने पर उस गवाक्ष (झरोखे) से प्राप्त हुई चीजों को जानने वाले मनुष्य को उनकी स्मृति होती है, वैसे ही उस अंग से पहले जो कुछ जाना-सुना था, उसकी स्मृति शरीर को होनी चाहिए; पर होती नहीं है ॥१९॥

न दोषः कारणत्कार्ये वासनासंक्रमाच्च न ।
भ्रूणस्य स्मरणापत्तेरम्बानुभवसंक्रमात् ॥२०॥

भावार्थ : कारण से और कार्य में वासना के संक्रमण होने से स्मृति होने में कोई दोष नही है । क्योंकि माता के

अनुभव का गर्भस्थ बालक में संक्रमण होने से उस बालक को भी उसकी स्मरणापत्ति होगी ॥२०॥

नोपादानादुपादेयवासना-स्थैर्यदर्शने ।
करादेरतथात्वेनायोग्यत्वाप्तेरणुस्थितौ ॥२१॥

भावार्थ : हाथ आदि अतथारूप (यानी उपादानकारण नहीं) होने से परमाणु की स्थिति में अयोग्यता की प्राप्ति होने से उपादानकारण से उपादेय वासना और स्थिरता का दर्शन नहीं होता ॥२१॥

मद्यांगेभ्यो मदव्यक्तिरपि नो मेलकं विना ।
ज्ञानव्यक्तिस्तथा भाव्याऽन्यथा सा सर्वदा भवेत् ॥२२॥

भावार्थ : मद्य के अंगों से मदशक्ति पैदा होती है, परन्तु इनका मिश्रण या मिश्रणकर्ता के बिना नहीं हो सकती, वैसे ही ज्ञान की अभिव्यक्ति में भी जान लेना चाहिए, अन्यथा वह ज्ञान सदा ही होता रहना चाहिए ॥२२॥

राजरंकादिवैचित्र्यमप्यात्मकृतकर्मजम् ।
सुखदुःखादि-संवित्तिविशेषो नान्यथा भवेत् ॥२३॥

भावार्थ : राजा, रंक आदि की विभिन्नता भी आत्मा के द्वारा कृत कर्मजनित है, नहीं तो सुखदुःखादि का विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता ॥२३॥

आगमाद् गम्यते चात्मा दृष्टेष्टाऽर्थाऽविरोधिनः ।
तद्वक्ता सर्वविच्चैनं दृष्टवान् वीतकश्मलः ॥२४॥

भावार्थ : दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट अर्थ के विरोधरहित आगम (शाब्द प्रमाण) से आत्मा जाना जाता है। उस आगम के वक्ता समस्त दोषरहित सर्वज्ञ भगवान् ने उस आत्मा को देखा है ॥२४॥

अभ्रान्तानां च विफला नामुष्मिक्यः प्रवृत्तयः ।
परबन्धनहेतोः कः स्वात्मानमवसादयेत् ॥२५॥

भावार्थ : भ्रान्तिरहित पुरुषों की परलोक-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ निष्फल नहीं जातीं। कौन ऐसा पुरुष है, जो पर के बन्धन हेतु अपनी आत्मा को विषाद में डालेगा ? कोई भी नहीं ॥२५॥

सिद्धिः स्थाणवादिवद् व्यक्ता संशयादेव चात्मनः ।
असौ खरविषाणादौ व्यस्तार्थविषयः पुनः ॥२६॥

भावार्थ : ठूंठ आदि के समान संशय से ही आत्मा की सिद्धि स्पष्टरूप से होती है। क्योंकि संशय भी तो खर और सींग आदि में भिन्न-भिन्न अर्थ का विषय होता है ॥२६॥

अजीव इति शब्दश्च, जीवसत्तानियंत्रितः ।
असतो न निषेधो, यत्संयोगादिनिषेधनात् ॥२७॥

भावार्थ : 'अजीव' शब्द भी जीव के अस्तित्व का नियम प्रगट करता है। क्योंकि विद्यमान पदार्थ के संयोगादि का निषेध होता है; अविद्यमान पदार्थों का निषेध नहीं होता ॥२७॥

संयोगः समवायश्च सामान्यं च विशिष्टता ।
निषिध्यते पदार्थानां त एव न तु सर्वथा ॥२८॥

भावार्थ : पदार्थों के संयोग, समवाय और सामान्य-विशेष का ही निषेध किया जाता है; परन्तु उन पदार्थों का सर्वथा निषेध नहीं किया जाता ॥२८॥

शुद्धं व्युत्पत्तिमज्जीवपदं सार्थं घटादिवत् ।
तदर्थश्च शरीरं नो पर्यायपदभेदतः ॥२९॥

भावार्थ : घट आदि शब्दों की तरह जीवशब्द शुद्ध है और व्युत्पत्तियुक्त है, और इस कारण वह समर्थ है । जीव शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि जीव शब्द के पर्यायवाची शब्दों में शरीररूप अर्थ नहीं है ॥२९॥

आत्मा व्यवस्थितेस्त्याज्यं ततश्चार्वाकदर्शनम् ।
पापाः किलैतदालापाः सद्व्यापारविरोधिनः ॥३०॥

भावार्थ : इस प्रकार आत्मा की व्यवस्था (सिद्धि) हो जाती है, इसलिए चार्वाकदर्शन (मत) त्याज्य है; क्योंकि उसके आलाप (भाषण) पापमय हैं और शुभ व्यापार (प्रवृत्ति) के विरोधी है ॥३०॥

ज्ञानक्षणावलीरूपो नित्यो नात्मेति सौगताः ।
क्रमाक्रमाभ्यां नित्यत्वे युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥३१॥

भावार्थ : बौद्ध कहते हैं कि आत्मा ज्ञान के क्षणों की परम्परारूप है, वह नित्य नहीं है। आत्मा को नित्य मानने पर क्रम से या अक्रम से भी अर्थक्रिया घटित नहीं होती ॥३१॥

स्वभावहानितोऽध्रौव्यं क्रमेणाऽर्थक्रियाकृतौ ।
अक्रमेण च तद्भावे युगपत्सर्वसम्भवः ॥३२॥

भावार्थ : यदि आत्मा क्रम से अर्थक्रियाकारी हो तो उसके नित्यत्व-स्वभाव की हानि होगी, और इस प्रकार आत्मा में अनित्यता आ जाएगी। और यदि ऐसा कहें कि आत्मा अक्रम से अर्थक्रिया करती है, तो एकसाथ सभी क्रियाएँ होनी चाहिए; पर होती नहीं ॥३२॥

क्षणिके तु न दोषोऽस्मिन् कुर्वद्रूपविशेषिते ।
ध्रुवेक्षणोत्थतृष्णाया निवृत्तेश्च गुणो महान् ॥३३॥

भावार्थ : आत्मा को क्षणिक मानने में कोई दोष नहीं है। वह नये-नये रूप करता है। वर्तमानक्षण में अपनी उत्पत्तिक्रिया करते-करते जो रूप विद्यमान हो, उसे कुर्वद्रूप-विशेषण युक्त लक्षण से क्षणिकत्व में दोष नहीं आता। बल्कि नित्यत्वपक्ष को देखने से उत्पन्न हुई तृष्णा की निवृत्तिरूपी महागुण ही होता है ॥३३॥

मिथ्यात्ववृद्धिकृन्नूनं तदेतदपि दर्शनम् ।
क्षणिके कृतहानिर्यत्तथात्मन्यकृतागमः ॥३४॥

भावार्थ : निश्चय ही यह बौद्धदर्शन मिथ्यात्व (असत्य) की वृद्धि करने वाला है क्योंकि आत्मा को क्षणिक मानने पर किये हुए कर्मों का नाश और नहीं किये हुए कर्मों की प्राप्तिरूप दोष आते हैं ॥३४॥

एकद्रव्यान्वयाभावाद् वासना-संक्रमश्च न ।
पौर्वापर्यं हिं भावानां सर्वत्रातिप्रसक्तिमत् ॥३५॥

भावार्थ : एक आत्मद्रव्य का अन्वय न होने से वासना का संक्रम नहीं होगा । क्योंकि पदार्थों का पौर्वापर्य सदा सर्वत्र अतिप्रसक्ति वाला है ॥३५॥

कुर्वद्रूपविशेषे च न प्रवृत्तिर्न वाऽनुमा ।
अनिश्चयान्न वाऽध्यक्षं तथा चोदयतो जगौ ॥३६॥

भावार्थ : कुर्वद्‌रूप विशेष वाली आत्मा मानने से शुभाशुभ प्रवृत्ति नहीं होगी, अनुमान नहीं होगा और निश्चय न होने से प्रत्यक्षप्रमाण भी नहीं रहेगा । इस सम्बन्ध में क्षणिकवादी को प्रेरित करते हुए सिद्धान्ती ने नीचे लिखे अनुसार कहा है ॥३६॥

न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत् ।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्ष निश्चयं विना ॥३७॥

भावार्थ : उस कुर्वद्र पविशेष-युक्त जीव में वैजात्य (विजातिरूप) विशेषण के बिना उसे पूर्वानुभूत का स्मरण नहीं

होगा और उस स्मरण के बिना अनुमान नहीं होगा। और उस अनुमान के बिना कुर्वद्रूप की सिद्धि अर्थात् निश्चय होगा नहीं, तथा निश्चय के बिना प्रत्यक्षप्रमाण भी नहीं होगा ॥३७॥

एकताप्रत्यभिज्ञानं क्षणिकत्वं च बाधते ।
योऽहमन्वभवं सोऽहं स्मरामीत्यवधारणात् ॥३८॥

भावार्थ : एकत्व का प्रत्यभिज्ञान क्षणिकत्व का बाधक है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में 'जो मैंने पहले अनुभव किया था, उसे मैं स्मरण करता हूँ' ऐसा निश्चय होता है ॥३८॥

नास्मिन् विषयबाधो यत्क्षणिकेऽपि यथैकता ।
नानाज्ञानान्वये तद्वत् स्थिरे नानाक्षणान्वये ॥३९॥

भावार्थ : नित्य (चिरकालस्थायी) एक आत्मा में इस विषय की बाधा नहीं आती। कारण, जैसे बौद्धमत में क्षणिक आत्मा में भी नाना प्रकार के ज्ञान का सम्बन्ध करने में एकतारूप दोष नहीं आता, वैसे ही स्थिर आत्मा में भी नाना प्रकार के अनेक क्षणों के साथ सम्बन्ध करने में कोई दोष नहीं आता ॥३९॥

नानाकार्यैक्यकरणस्वाभाव्ये च विरुध्यते ।
स्याद्वादसंनिवेशेन नित्यत्वेऽर्थक्रिया न हि ॥४०॥

भावार्थ : नाना प्रकार के कार्यों की एकता करने के स्वभाव में विरोध आता है। और स्याद्वाद की स्थापना करने से नित्य आत्मा में अर्थक्रिया में विरोध नहीं आता ॥४०॥

नीलादावप्यतद्भेदशक्तयः सुवचाः कथम् ?
परेणाऽपि हि नानैकस्वभावोपगमं विना ॥४१॥

भावार्थ : अनेक स्वभाव का स्वीकार किये बिना नीला, काला आदि वर्णों में बौद्ध भी अतद्भेद की शक्तियों का कथन किस प्रकार कर सकते हैं? ॥४१॥

ध्रुवेक्षणेऽपि न प्रेम निवृत्तमनुपप्लवात् ।
ग्राह्याकार इव ज्ञाने गुणस्तन्नात्र दर्शने ॥४२॥

भावार्थ : आत्मा का नित्य इक्षण करने से भी अनुपद्रव के कारण सर्वज्ञ ने प्रेम का निषेध नहीं किया। इस कारण इस बौद्धदर्शन में ग्राह्य आकार की तरह उसके ज्ञान में कोई भी गुण नहीं है ॥४२॥

प्रत्युतानित्यभावे हि स्वतः क्षणजनुर्धिया ।
हेत्वनादरतः सर्वक्रियाविफलता भवेत् ॥४३॥

भावार्थ : इसके विपरीत अनित्यभाव मानने से स्वतः ही क्षणिक जन्म की बुद्धि से हेतु-क्रियाफल के प्रति अनादर होगा और उससे समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाएँगी ॥४३॥

तस्मादिदमपि त्याज्यमनित्यत्वस्य दर्शनम् ।
नित्यसत्यचिदानन्दपदसंसर्गमिच्छता ॥४४॥

भावार्थ : इसलिए नित्य-सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप मुक्तिपद का संसर्ग चाहने वाले को अनित्य (क्षणिकवादी) दर्शन छोड़ देना चाहिए ॥४४॥

न कर्ता, नापि भोक्तात्मा कापिलानां तु दर्शने ।
जन्यधर्माश्रयो नाऽयं, प्रकृतिः परिणामिनी ॥४५॥

भावार्थ : सांख्यदर्शन में आत्मा कर्ता और भोक्ता नहीं है, और आत्मा जन्य (माया) के धर्म का आश्रय भी नहीं है, परन्तु जो उसका आश्रय है, वह तो परिणाम वाली प्रकृति (माया) है ॥४५॥

प्रथमः परिणामोऽस्या बुद्धिर्धर्माष्टकान्विता ।
ततोऽहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतोदयः क्रमात् ॥४६॥

भावार्थ : धर्मादि आठ से युक्त बुद्धि ही इस प्रकृति का प्रथम परिणाम है । और उस बुद्धि से क्रमशः अहंकार, ५ तन्मात्रा, ५ इन्द्रियों और ५ महाभूतों की उत्पत्ति होती है ॥४६॥

चिद्रूपः पुरुषो बुद्धेः सिद्धयै चैतन्यमानतः ।
सिद्धिस्तस्या अविषयाऽवच्छेदनियमान्वितः ॥४७॥

भावार्थ : उस बुद्धि की सिद्धि के लिए चैतन्यरूप प्रमाण है और अवच्छेद के नियय से युक्त चैतन्यरूप पुरुष है, अन्यथा उसकी सिद्धि अविषया है ॥४७॥

हेतुत्त्वे पुंस्प्रकृत्यर्थेन्द्रियाणामति निर्वृतिः ।
द्दष्टाद्दष्टविभागश्च व्यासंगश्च न युज्यते ॥४८॥

भावार्थ : पुरुष को हेतुरूप में अंगीकार करने से पुरुष, प्रकृति, विषय और इन्द्रिय की अत्यन्त निर्वृति, द्दष्ट, और

अदृष्ट का विभाग, तथा व्यासंग, कोई भी युक्तिसंगत (घटित) नहीं होगा ॥४८॥

स्वप्ने व्याघ्रादिसंकल्पत्वान्नरत्त्वानभिमानतः ।
अहंकारश्च नियतव्यापारः परिकल्पते ॥४९॥

भावार्थ : स्वप्न में बाघ आदि संकल्प की तरह पुरुषत्व के अनभिमान (अज्ञान) से निश्चित व्यापार वाले अहंकार की कल्पना की जाती है ॥४९॥

तन्मात्रादिक्रमस्तस्मात्प्रपञ्चोत्पत्तिहेतवे ।
इत्थं बुद्धिर्जगत्कर्त्री पुरुषो न विकारभाक् ॥५०॥

भावार्थ : उस अहंकार से तन्मादि का क्रम जगत् की उत्पत्ति के लिए है। इस प्रकार बुद्धि जगत् की कर्त्री है, परन्तु पुरुष (आत्मा) विकार वाला नहीं है ॥५०॥

पुरुषार्थोपरागौ द्वौ व्यापारावेश एव च ।
अत्रांशो वेद्म्यहं वस्तु करोमीति च धीस्ततः ॥५१॥

भावार्थ : इन सभी व्यापारों (प्रवृत्तियों) के आरम्भ (आवेश) करने में पुरुषार्थ और उपराग ये दो कर्त्ता हैं। इस कारण अंश=जीवात्मा को मैं पदार्थ को जानता हूँ, अतः उसे करता हूँ, ऐसी बुद्धि होती है। इस तरह बुद्धि में दो प्रकार के अव्यवसाय से आत्मा कर्त्ता है। परन्तु यह बात अतात्त्विक है ॥५१॥

चेतनाऽहं करोमीति बुद्धेर्भेदाग्रहात् स्मयः ।
एतन्नाशेऽनवच्छिन्नं चैतन्यं मोक्ष इष्यते ॥५२॥

भावार्थ : "मैं चेतन हूँ. मैं आत्मा यह सब करता हूँ," इस प्रकार बुद्धि का (आत्मा के साथ) अभेद मानने से अहंकार होता है। इस अहंकार का नाश होने पर अविच्छिन्न चैतन्य रहता है, वही मोक्ष कहलाता है ॥५२॥

कर्त्तृबुद्धिगते दुःखसुखे पुंस्युपचारतः ।
नरनाथे यथाभृत्यगतौ जयपराजयौ ॥५३॥

भावार्थ : जैसे सेवक की जय-पराजय का राजा में उपचार होता है; वैसे ही कर्त्तारूप बुद्धि के सुखदुःख का आत्मा (पुरुष) में उपचार किया जाता है ॥५३॥

कर्त्ता भोक्ता च नो तस्मादात्मा नित्यो निरंजनः ।
अध्यातसादन्यथाबुद्धिस्तथाचोक्तं महात्मना ॥५४॥

भावार्थ : इस कारण आत्मा कर्ता और भोक्ता नहीं है तथा वह नित्य और निरंजन है। परन्तु अध्यास के कारण उस पर अन्यथाबुद्धि यानी अतथ्य (असत्य) ज्ञान पुरुष को होता है। इस प्रकार महात्मा कपिल ने कहा है ॥५४॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वथा ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥५५॥

भावार्थ : वास्तव में प्रकृति के गुण ही कर्मों को करते हैं; फिर भी अहंकार से मोहित (मूढ़) आत्मा (पुरुष) 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है ॥५५॥

विचार्यमाणं नो चारु तदेतदपि दर्शनम् ।
कृतिचैतन्ययोर्व्यक्तं सामानधिकरण्यतः ॥५६॥

भावार्थ : विचार करने पर यह दर्शन भी सुन्दर नहीं है । क्योंकि बुद्धि और चैतन्य (पुरुष) का अधिकरण समान होने से उसकी असुन्दरता स्पष्ट है ॥५६॥

बुद्धिः कर्त्री च भोक्त्री च नित्या चेन्नास्ति निर्वृतिः ।
अनित्या चेन्न संसारः प्राग्धर्मादेरयोगतः ॥५७॥

भावार्थ : आपने बुद्धि को कर्त्री और भोक्त्री बताई; अगर वह बुद्धि नित्य हो तो मोक्ष नहीं होगा और यदि वह अनित्य हो तो संसार नहीं होगा, क्योंकि बुद्धि की उत्पत्ति से पहले धर्मादि का योग नहीं होता ॥५७॥

प्रकृतावेव धर्मादि-स्वीकारे बुद्धिरेव का ?
सुवचश्च घटादौ स्यादीदृग्धर्मान्वयस्तथा ॥५८॥

भावार्थ : यदि प्रकृति में ही धर्मादि का स्वीकार करेंगे तो फिर बुद्धि किसे कहेंगे? और फिर इस प्रकार के धर्मादि के सम्बन्ध का कथन घटादि में भी अनायास ही हो जाएगा ॥५८॥

कृतिभोगौ च बुद्धेश्चेद् बन्धो मोक्षश्च नात्मनः ।
ततश्चात्मानमुद्दिश्य कूटमेतद्यदुच्यते ॥५९॥

भावार्थ : यदि कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि का ही हो तो बन्ध और मोक्ष आत्मा में घटित नहीं होंगे। और अगर वैसा होगा, तब तो आत्मा को लेकर जो कुछ भी कपिलादि ने कहा है, वह सब व्यर्थ हो जाएगा ॥५९॥

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि मुच्यते भवबन्धनात् ॥६०॥

भावार्थ : पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता जटाधारी, मुँडित, चोटी-धारी अथवा अन्य किसी वेष का धारक, जिस किसी भी आश्रम में रत हो, संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥६०॥

एतस्य चोपचारत्त्वे मोक्षशास्त्र वृथाखिलम् ।
अन्यस्य हि विमोक्षार्थं न कोऽप्यन्यः प्रवर्तते ॥६१॥

भावार्थ : यदि उस बन्ध और मोक्ष का आत्मा में उपचार करेंगे तो समग्र मोक्षप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि दूसरे की मुक्ति के लिए दूसरा कौन प्रवृत्ति करेगा? ॥६१॥

कपिलानां मते तस्मादास्मिन्नैवोचिता रतिः ।
यत्रानुभवसंसिद्धः कर्त्ता भोक्ता च लुप्यते ॥६२॥

भावार्थ : इस कारण कपिलादि के इस सांख्यमत में प्रीति करना उचित नहीं है, क्योंकि उक्त मत में अनुभवसिद्ध कर्त्ता और भोक्ता का लोप किया जाता है ॥६२॥

नास्ति निर्वाणमित्याहुरात्मनः केऽप्यबन्धतः ।
प्राक् पश्चाद् युगपद्वापि कर्मबन्धाव्यवस्थितेः ॥६३॥

भावार्थ : कई निर्मोक्षवादी कहते हैं—'निर्वाण है ही नहीं', क्योंकि आत्मा के बन्ध नहीं होने से मोक्ष भी नहीं होता। कारण कि पहले, पीछे, अथवा साथ-साथ आत्मा के कर्मबन्धन की अव्यवस्था है ॥६३॥

अनादिर्यदि सम्बन्ध इष्यते जीवकर्मणोः ।
तदानन्त्यान्न मोक्षः स्यात्तदात्माकाशयोगवत् ॥६४॥

भावार्थ : यदि आप जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कहेंगे तो आत्मा और आकाश के सम्बन्ध की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनन्त हो जाएगा और उससे मोक्ष सिद्ध नहीं होगा ॥६४॥

तदेतदत्यसम्बद्धं यन्मिथो हेतुकार्ययोः ।
सन्तानानादिता बीजांकुरवद् देहकर्मणोः ॥६५॥

भावार्थ : किन्तु यह (अमोक्षवादियों का) मत अत्यन्त असंगत है। क्योंकि परस्पर कारण और कार्यरूप देह और कर्म का बीज और अंकुर की तरह परस्पर प्रवाहरूप (परम्परा) से परस्पर अनादित्व है ॥६५॥

कर्त्ता कर्मान्वितो देहे जीवः कर्मणि देहयुक् ।
क्रियाफलोपभुक् कुम्भे दण्डान्वितकुलालवत् ॥६६॥

भावार्थ : कर्त्ता जीव कर्म से युक्त होकर ही शरीर में स्थिर होकर कर्त्ता होता है, और देह से युक्त होकर ही वह कर्म का कर्त्ता है। जैसे डंडे से युक्त कुँभार घट का कर्त्ता होता है वैसे ही देह और कर्म से युक्त जीव क्रिया के फल का भोक्ता होता है ॥६६॥

अनादिसन्ततेर्नाशः स्याद् बीजांकुरयोरिव ।
कुक्कुट्यंडकयोः स्वर्णमलयोरिव वानयोः ॥६७॥

भावार्थ : बीज और अंकुर की तरह, मुर्गी और अंडे की तरह तथा सोने और उसके मैल की तरह जीव और कर्म की इस अनादि सन्तति (परम्परागत सम्बन्ध) का नाश हो जाता है ॥६७॥

भव्येषु च व्यवस्थेयं सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।
अनाद्यनन्तोऽभव्यानां स्यादात्माकाशयोगवत् ॥६८॥

भावार्थ : यह व्यवस्था भव्यजीवों के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। अभव्यजीवों के आश्रित तो जीव और कर्म का सम्बन्ध आत्मा और आकाश के संयोग की तरह अनादि-अनन्त है ॥६८॥

द्रव्यभावे समानेऽपि जीवाजीवत्वभेदवत् ।
जीवभावे समानेऽपि भव्याभव्यत्वयोर्भिदा ॥६९॥

भावार्थ : जैसे द्रव्यत्व सब द्रव्यों में एक समान है, फिर भी उनमें जीवत्व और अजीत्व का भेद है, वैसे ही

जीवत्व भव्य और अभव्य सब जीवों में समान होते हुए भी भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद होता है ॥६९॥

स्वाभाविकं च भव्यत्वं कलशप्रागभाववत् ।
नाशकारणसाम्राज्याद् विनश्यन्न विरुध्यते ॥७०॥

भावार्थ : घट के प्रागभाव की तरह स्वाभाविक भव्यत्व के नाश की कारणसामग्री को लेकर नाश होने से भी कोई विरोध नहीं आता ॥७०॥

भव्योच्छेदो न चैवं स्याद् गुर्वानन्त्यान्नभोंशवत् ।
प्रतिमादलवत् क्वापि फलाभावेऽपि योग्यता ॥७१॥

भावार्थ : आकाश के प्रदेशों की तरह भव्यजीव महा-अनन्त होने से उन भव्यों का सर्वथा नाश नहीं होगा । अन्य किसी विषय में कदाचित् फल का अभाव हो, लेकिन प्रतिमा (बनने योग्य पाषाण) दल की तरह भव्य में मोक्ष की योग्यता तो होती ही है ॥७१॥

नैतद् वयं वदामो यद् भव्यः सर्वोऽपि सिध्यति ।
यस्तु सिध्यति सोऽवश्यं भव्य एवेति नो मतम् ॥७२॥

भावार्थ : हम यह नहीं कहते कि जितने भी भव्यजीव हैं, वे सब के सब मोक्ष में (सिद्ध हो) जाते हैं, परन्तु इतना हम दावे के साथ कह सकते हैं कि जो मोक्ष में गए हैं, वे सभी अवश्य ही मोक्ष की योग्यता वाले भव्य जीव ही थे ॥७२॥

ननु मोक्षेऽपि जन्यत्वाद् विनाशिनी भवस्थितिः ।
नैवं प्रध्वंसवत्तस्यानिधनत्त्वव्यवस्थितेः ॥७३॥

भावार्थ : प्रश्न होता है—विनाशस्वभाव वाली आत्मा मोक्ष में जन्म लेती है, उत्पन्न होती है, इसलिए मोक्ष से फिर भव (संसार) में स्थिति (उत्पत्ति) होनी चाहिए ! इस पर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं,—ऐसा नहीं होता। प्रध्वंस की तरह मोक्ष की व्यवस्था अविनाशिनी है, उसका नाश नहीं होता ॥७३॥

आकाशस्येव वैविक्त्या मुद्गरादेर्घटक्षये ।
ज्ञानादेः कर्मणो नाशे नात्मनो जायतेऽधिकम् ॥७४॥

भावार्थ : मुद्गर आदि से घड़े के फूट जाने पर पृथक्ता हो जाने से जैसे आकाश बढ़ता नहीं है, वैसे ही ज्ञानादि द्वारा कर्म का नाश होने से भी आत्मा की वृद्धि नहीं होती ॥७४॥

न च कर्माणुसम्बन्धान्मुक्तस्यापि न मुक्तता ।
योगानां बन्धहेतूनामपुनर्भवसम्भवात् ॥७५॥

भावार्थ : कर्म-परमाणुओं के साथ सम्बन्ध होने से सिद्धि प्राप्त हुई मुक्तात्मा को भी मुक्ति नहीं मिलती, ऐसी शंका करना उचित नहीं, क्योंकि बन्ध के हेतुरूप योगों की पुनः उत्पत्ति असंभव है ॥७५॥

सुखस्य तारतम्येन प्रकर्षस्याऽपि सम्भवात् ।
अनन्तसुखसंवित्तिर्मोक्षः सिध्यति निर्भयः ॥७६॥

भावार्थ : सुख की तरतमता (न्यूनाधिकता) होने से उत्कृष्ट सुख की भी सम्भावना है। इसलिए जिसमें अनन्तसुख का ज्ञान होता है, वही निर्भय मोक्ष है, ऐसा सिद्ध होता है ॥७६॥

वचनं नास्तिकाभानां मोक्षसत्तानिषेधकम् ।
भ्रान्तानां तेन नादेयं परमार्थगवेषिणा ॥७७॥

भावार्थ : इसलिए मोक्ष के अस्तित्व का निषेध करने वाले, भ्रान्त एवं नास्तिकों के तुल्य लोगों के वचन का परमार्थान्वेषक पुरुष को जरा भी आदर नहीं करना चाहिए ॥७७॥

न मोक्षोपाय इत्याहुरपरे नास्तिकोपमाः ।
कार्यमस्ति न हेतुश्चेत्येषा तेषां कदर्थना ॥७८॥

भावार्थ : नास्तिकसदृश दूसरे कितने ही लोग कहते हैं कि '**मोक्ष का उपाय है ही नहीं**' वे कार्य को मानते हैं, लेकिन कारण को नहीं मानते; यही उनकी बड़ी विडम्बना है ॥७८॥

अकस्मादेव भवतीत्यलोकं नियतावधेः ।
कदाचित्कस्य दृष्टत्वाद् बभाषे तार्किकोऽप्यदः ॥७९॥

भावार्थ : मोक्षप्राप्ति की अवधि नियत होने से अकस्मात् ही मोक्ष मिल जाता है। उनका यह कथन भी मिथ्या है। क्योंकि अवधि की नियतता कदाचित् (शायद ही कभी) दिखाई देती है। इस बात को नैयायिक भी निम्नोक्त रूप से कहते हैं ॥७९॥

हेतुभूतनिषेधो न स्वानुपाख्याविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वत: ॥८०॥

भावार्थ : मोक्षावधि नियत है, इस कारण हेतुरूप सामग्री का निषेध नहीं है तथा आत्मा के निषेध का विधान नहीं है । ऐसा होने से स्वभाव की वर्णना उत्पन्न नहीं होती ॥८०॥

न च सार्वत्रिको मोक्ष: संसारस्यापि दर्शनात् ।
न चेदानीं न तद्व्यक्तिर्व्यञ्जको हेतुरेव यत् ॥८१॥

भावार्थ : संसार दृष्टिगोचर होता है, इसलिए सर्वत्र मोक्ष नहीं होता तथा वर्त्तमान में उस मोक्ष की स्पष्टता (अभिव्यक्ति) नहीं होती, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए । क्योंकि मोक्ष को प्रकट करने वाला हेतु=साधन तो है ही ॥८१॥

मोक्षोपायोऽस्तु किन्त्वस्य निश्चयो नेति चेन्मतम् ।
तन्न रत्नत्रयस्यैव तथाभावविनिश्चयात् ॥८२॥

भावार्थ : मोक्ष का उपाय भले ही हो, किन्तु उपाय का स्पष्टरूप से (अमुक) निश्चय नहीं है, यदि आपका ऐसा मत है तो वह यथार्थ नहीं है; क्योंकि रत्नत्रय ही मोक्षोपाय के रूप में निश्चित हैं ॥८२॥

भवकारणरागादि प्रतिपक्षमद: खलु ।
तद्विपक्षस्य मोक्षस्य कारणं घटतेतराम् ॥८३॥

भावार्थ : यह रत्नत्रय (मोक्षोपायभूत) ही संसार के कारण (हेतु) रूप रागद्वेषादि के प्रतिपक्षी=शत्रुरूप हैं। अतः वे त्रिरत्न उस संसाररूप कार्य के विपक्षी—शत्रुरूप मोक्ष के कारण हैं, घूम-फिरकर यही बात युक्तिसंगत लगती है ॥८३॥

अथ रत्नत्रयप्राप्तेः प्राक्कर्मलघुता यथा ।
परतोऽपि तथैव स्यादिति किं तदपेक्षया ॥८४॥

भावार्थ : जैसे रत्नत्रय की प्राप्ति से पहले भी कर्मों का लाघव (हल्कापन) किसी भी अन्य साधन से हो जाता है, इसके अनुसार मोक्ष का भी अन्य कोई साधन (उपाय) हो सकता है। अतः रत्नत्रय की ही अपेक्षा इसके लिए क्यों रखी जाय? ॥८४॥

नैवं पूर्वसेवैव मृद्वी नो साधनक्रिया ।
सम्यक्त्वादिक्रिया तस्माद् दृढैव शिवसाधने ॥८५॥

भावार्थ : पूर्वसेवा (आदि) ही मोक्ष का साधन नहीं हो सकती है, क्योंकि वह कोमल है। इसलिए वह मोक्षसाधन की क्रिया नहीं हो सकती। मोक्षसाधन के लिए तो सुदृढ़ सम्यक्त्वादि क्रिया ही समर्थ व उचित है ॥८५॥

गुणाः प्रादुर्भवन्त्युच्चैरथवा कर्मलाघवात् ।
तथाभव्यतया तेषां कुतोऽपेक्षानिवारणम् ॥८६॥

भावार्थ : तथाभव्यत्व से अथवा कर्मों के लाघव (अल्पता) से अत्यन्त तीव्रता से गुण प्रगट होते हैं, अतः उसकी अपेक्षा को क्यों ठुकराते हो? ॥८६॥

तथाभव्यतयाक्षेपाद् गुणा न च न हेतवः ।
अन्योऽन्यसहकारित्वाद् दण्डचक्रभ्रमादिवत् ॥८७॥

भावार्थ : सिद्धान्तियों द्वारा समाधान—तथाभव्यता के आक्षेप से वीर्योत्साहादि गुण मोक्ष के हेतु नहीं हैं, ऐसा हमारा विचार (मत) नहीं है । परन्तु घट के बनने में डंडा, चाक, डोरी और भ्रमण वगैरह जैसे अन्योन्य सहकारी कारण हैं, वैसे ही मोक्षसाधना में तथाभव्यत्व आदि एक दूसरे के सहकारी कारण हैं ॥८७॥

ज्ञानदर्शनचारित्राण्युपायास्तद्भवक्षये ।
एतन्निषेधकं वाक्यं त्याज्यं मिथ्यात्ववृद्धिकृत् ॥८८॥

भावार्थ : इसलिए संसार का नाश करने के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र उपाय हैं । अतः इसका निषेध करने वाला वाक्य मिथ्यात्ववर्द्धक होने से त्याज्य है ॥८८॥

मिथ्यात्वस्य पदान्येतान्युत्सृज्योत्तमधीधनः ।
भावयेत् प्रातिलोम्येन सम्यक्त्वस्य पदानि षट् ॥८९॥

भावार्थ : अतः उत्तम बुद्धि का धनी पुरुष मिथ्यात्व के इन स्थानों को छोड़कर उनके विपरीत सम्यक्त्व के ६ पदों (स्थानों) पर विचार करे । इन भव्य भावनाओं से अपने को ओतप्रोत करें ॥८९॥

॥ इति मिथ्यात्वत्यागाधिकारः ॥

● ● ●

अधिकार चौदहवां

[कदाग्रहत्यागः]

मिथ्यात्वदावानलनीरवाहमसद्ग्रहत्यागमुदाहरन्ति ।
अतो रतिस्तत्र बुधैर्विधेया विशुद्धभावैः श्रुतसारवद्भिः ॥१॥

भावार्थ : असद्ग्रह (मिथ्या आग्रह) को मिथ्यात्त्वरूपी दावाग्नि के लिए मेघ के समान कहा है, इसलिए शुद्धाशयवाले शास्त्र के सारज्ञ पण्डितों को इस कदाग्रहत्याग करने में रुचि रखनी चाहिए ॥१॥

असद्ग्रहाग्निज्वलितं यदन्तः क्व तत्र तत्त्वव्यवसायवल्ली ।
प्रशान्तपुष्पाणि हितोपदेश-फलानि चान्यत्र गवेषयन्तु ॥२॥

भावार्थ : जिनका चित असद्ग्रहरूपी आग से जला हुआ है, वहाँ तत्त्वनिश्चयरूपी बेल कहाँ ठहर सकती है? अतः शान्तिरूपी फूलों एवं हितोपदेशरूपी फलों की तलाश कहीं और जगह जाकर कीजिए ॥२॥

अधीत्य किञ्चिच्च निशम्य किञ्चिदसद्ग्रहाद् पण्डितमानिनो ये ।
मुखं सुखं चुम्बितमस्तु वाचो, लीलारहस्यं तु न तैर्जगाहे ॥३॥

भावार्थ : कुछ पढ़कर, कुछ शास्त्रादि सुनकर जो कदाग्रहवश अपने को पण्डित मानते हों, उन्होंने चाहे सुखपूर्वक

वाणी के मुख का चुम्बन कर लिया हो, परन्तु उन्होंने वाणी के लीलारहस्य का अवगाहन नहीं किया; यही समझना चाहिए ॥३॥

असद्ग्रहोत्सर्पदतुच्छदर्पैर्बोधांशतान्धीकृतमुग्धलोकैः ।
विडम्बिता हन्त जड़ैर्वितण्डापाण्डित्यकण्डूलतया त्रिलोकी ॥४॥

भावार्थ : कदाग्रह के कारण जिनका अहंकार अत्यन्त उछल रहा है तथा जिन्होंने बोध (ज्ञान) के एक अंश (लेश) से मुग्ध (भोले) लोगों को अंधा बना दिया है, अफसोस है, ऐसे जड़पुरुषों ने वितण्डावाद करने में पाण्डित्य की खुजली से तीनों जगत् के जीवों को विडम्बित (तिरस्कृत) कर रखा है ॥४॥

विधोर्विवेकस्य न यत्र दृष्टिस्तमोघनं तत्वरविर्विलीनः ।
अशुक्लपक्षस्थितिरेष नूनमसद्ग्रहः कोऽपि कुहूविलासः ॥५॥

भावार्थ : जिससे विवेकरूपी चन्द्रमा के दर्शन नहीं हुए, हृदय में गाढ़ अंधकार छाया हुआ है, जिसके मस्तिक में तत्त्वज्ञानरूपी सूर्य अस्त हो गया है, वहाँ कृष्णपक्ष की स्थिति वाली असद्ग्रहरूपी किसी (अलौकिक) अमावस्या का ही विलास है ॥५॥

कुतर्कदात्रेण लुनाति तत्त्ववल्लीं रसात् सिञ्चति दोषवृक्षम् ।
क्षिपत्यधः स्वादुफलं समाख्यमसद्ग्रहच्छन्नमतिर्मनुष्यः ॥६॥

भावार्थ : असद्ग्रह से जिसकी बुद्धि आच्छादित हो गई है, ऐसा मनुष्य कुतर्करूपी हंसिये से तत्त्वरूपी बेल को काट

देता है, दोषरूपी वृक्ष को रस से सींचता है, और समत्व नाम के मीठे स्वादिष्ट फलों को नीचे फेंक देता है ।।६।।

असद्ग्रहग्रावमये हि चित्ते न क्वापि सद्भावरसप्रवेशः ।
इहांकुरश्चित्तविशुद्धबोधः सिद्धान्तवाचां बत कोऽपराधः ।।७।।

भावार्थ : कदाग्रहरूपी पाषाणमय चित्त में कभी सद्भावरूपी रस का प्रवेश नहीं हो पाता। ऐसे कठोर चित्त पर मनोविशुद्धियुक्त बोधरूपी अंकुर कदापि पैदा नहीं होता, इसमें सिद्धान्त-वाणी का क्या दोष है? ।।७।।

व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्तं, कृता प्रयत्नेन च पिण्डशुद्धिं ।
अभूत्फलं यत्तु न निह्नवानामसद्ग्रहस्यैव हि सोऽपराधः ।।८।।

भावार्थ : व्रतों का पालन किया, तपश्चर्या भी की, प्रयत्नपूर्वक पिण्डविशुद्धि (आहारशुद्धि) भी रखी, किन्तु निह्नवों को उनका फल नहीं मिला; वास्तव में इसमें उनके हठाग्रह का ही अपराध है ! ।।८।।

स्थालं स्वबुद्धिः सुगुरोश्च दातुरूपस्थिता काचन मोदकाली ।
असद्गृहः कोऽपि गले गृहीता, तथापि भोक्तुं न ददाति दुष्टः ।।९।।

भावार्थ : अपनी बुद्धिरूपी थाली है, और उसमें सुगुरुरूपी दाता से कोई अपूर्व मोदकराशि भी प्राप्त हुई है, तथापि कोई दुष्ट कदाग्रह इस प्रकार गला पकड़ लेता है कि उन्हें खोने नहीं देता ।।९।।

गुरुप्रसादीक्रियमाणमर्थं गृह्णाति नासद्ग्रहवांस्ततः किम् ?
द्राक्षा हि साक्षादुपनीयमानाः क्रमेलकः कंटकभुङ्न भुंक्ते ॥१०॥

भावार्थ : गुरु के द्वारा प्रसादरूप में दिये हुए अर्थ को दुराग्रही मनुष्य ग्रहण नहीं करता, इसमें (गुरु का) क्या दोष? काँटे चबा जाने वाले ऊँट के सामने अंगूरों का ढेर लाकर रख दिया जाय, फिर भी वह नहीं खाता तो इसमें दोष किसका है ? ॥१०॥

असद्ग्रहात्पामरसंगतिं ये कुर्वन्ति तेषां न रतिर्बुधेषु ।
विष्टासु पुष्टा किल वायसा नो मिष्टान्ननिष्ठं प्रसभं भवन्ति ॥११॥

भावार्थ : जो कदाग्रह के कारण पामर जनों की संगति करते हैं, उनकी पण्डितजनों के प्रति प्रीति नहीं होती । क्योंकि विष्टा खाकर पुष्ट बने हुए कौए कितनी ही जबर्दस्ती की जाय, मिष्टान्न खाने में रुचि नहीं रखते ॥११॥

नियोजयत्येव मतिं न युक्तौ, युक्तिं मतौ यः प्रसभं नियुक्ते ।
असद्ग्रहादेव न कस्य हास्योऽजले घटारोपममादधानः ॥१२॥

भावार्थ : जो पुरुष कदाग्रह के कारण शुद्ध (शास्त्रीय) युक्ति में अपनी बुद्धि नहीं जोड़ता, अपितु अपनी बुद्धि में (जो बात पकड़ी हुई है, उसमें) जबरन युक्ति को ले जाता है, वह मनुष्य मृग-मरीचिका में से जल भरने के लिए घड़ा रखता हुआ किसके उपहास का निशाना नहीं बनता? सबके मजाक का पात्र बनता है ॥१२॥

असद्ग्रहो यस्य गतो न नाशं, न दीयमानं श्रुतमस्य शस्यम् ।
न नाम वैकल्यकलंकितस्य प्रौढ़ा प्रदातुं घटते नृपश्रीः ॥१३॥

भावार्थ : जिस प्रकार अंगों के विकलतारूपी दोष से दूषित (अपाहिज), अथवा मन की व्याकुलता से दूषित व्यक्ति को प्रौढ़ राजलक्ष्मी नहीं दी (सौंपी) जाती; उसी प्रकार जिसका कदाग्रह नष्ट नहीं हुआ है, उसे भी शास्त्रज्ञान देना उचित नहीं है ॥१३॥

आमे घटे वारि यथा धृतं सद्विनाशयेत् स्वं च घटं च सद्यः ।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव श्रुतात्प्रदत्तादुभयोर्विनाशः ॥१४॥

भावार्थ : कच्चे घड़े में पानी रखते ही जैसे अपना (पानी का) और घड़े का तत्काल नाश हो जाता है। वैसे ही जिसकी बुद्धि कदाग्रह से ग्रस्त हो, उसे शास्त्रज्ञान देने से शास्त्र और कदाग्रही दोनों का विनाश हो जाता है ॥१४॥

असद्ग्रहग्रस्तमतेः प्रदत्ते हितोपदेशं खलु यो विमूढः ।
शुनीशरीरे स महोपकारी कस्तूरिकालेपनमादधाति ॥१५॥

भावार्थ : जिसकी बुद्धि दुराग्रह से पीड़ित है, उसे जो भोला बनकर हितोपदेश दे देता है, समझना चाहिए वह मूढ़पुरुष महान् उपकारी बनकर कुत्ती के शरीर पर मानो कस्तूरी का लेप करता है ॥१५॥

कष्टेन लब्धं विशदागमार्थं ददाति योऽसद्ग्रहदूषिताय ।
स खिद्यते यत्नशतोपनीतं बीजं वपन्नूषरभूमिदेशे ॥१६॥

भावार्थ : जो साधक बड़ी मुश्किल से प्राप्त निर्मल (स्पष्ट या विस्तृत) आगम के अर्थ को किसी दुराग्रह से दूषित व्यक्ति को दे देता है, वह बाद में उसी तरह खेद पाता है, जैसे सैंकड़ों प्रयत्नों से प्राप्त बीज को ऊसरभूमि वाले खेत में बोने वाला पाता है ॥१६॥

शृणोति शास्त्राणि गुरोस्तदाज्ञां करोति नासद्ग्रहवान् कदाचित् ।
विवेचकत्वं मनुते त्वसारग्राही भुवि स्वस्य च चालनीवत् ॥१७॥

भावार्थ : कदाग्रही पुरुष कभी गुरु से शास्त्र-श्रवण नहीं करता, न कभी उनकी आज्ञा का पालन करता है। वह तो चालनी की तरह असार (फेंकने लायक तुच्छ भूसे) को ही ग्रहण करता हुआ इस भूमण्डल पर अपने को विवेचक (व्याख्याता) मानता है ॥१७॥

दम्भाय चातुर्यमघाय शास्त्रं प्रतारणाय प्रतिभापटुत्वम् ।
गर्वाय धीरत्वमहो गुणानामसद्ग्रहस्थे विपरीतसृष्टिः ॥१८॥

भावार्थ : आश्चर्य है, कदाग्रही पुरुष के गुणों की कैसी विपरीत सृष्टि होती है ! उसकी चतुराई दम्भ के लिए होती है, उसका शास्त्राध्ययन भी पाप के लिए, उसकी प्रतिभापटुता दूसरों को ठगने के लिए और उसकी धीरता गर्व करने के लिए होती है ॥१८॥

असद्ग्रहस्थेन समं समन्तात् सौहार्दभृद् दुःखमवैति तादृक् ।
उपैति यादृक् कदली कुवृक्ष-स्फुटत्त्रुटत्कण्टककोटिकीर्णा ॥१९॥

भावार्थ : कदाग्रह में स्थित पुरुष के साथ मैत्री करने वाला चारों ओर से उसी तरह दुःख पाता है, जिस तरह पास में कुवृक्षों के फूटने और टूटने से करोड़ों कांटों से व्याप्त कदलीवृक्ष (केले का पेड़) कष्ट उठाता है ॥१९॥

विद्या विवेको विनयो विशुद्धिः सिद्धान्तवाल्लभ्यमुदारता च ।
असद्ग्रहाद्यान्ति विनाशमेते, गुणास्तृणानीव कणाद्दवाग्नेः ॥२०॥

भावार्थ : असद्ग्रह से विद्या, विवेक, विशुद्धि, सिद्धान्त के प्रति प्रीति और उदारता आदि ये गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह दवाग्नि के कण से तृण जलकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे दवाग्नि की एक चिनगारी से घास का ढेर जलकर साफ हो जाता है, वैसे ही कदाग्रह से आगमादि का अध्ययन (विद्या), कृत्याकृत्यविचार (विवेक), नम्रता (विनय), आहारादि की शुद्धि (विशुद्धि), आगमादि सिद्धान्त के प्रति प्रीति, उदारता, ये सब आत्महितकारी गुण समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः कदाग्रह या कदाग्रही के सम्पर्क से दूर ही रहना चाहिए ॥२०॥

स्वार्थः प्रियो नो गुणवांस्तु कश्चिन्मूढेषु मैत्री न तु तत्ववित्सु ।
असद्ग्रहापादितविश्रमाणां स्थितिः किलासावधमाधमानाम् ॥२१॥

भावार्थ : कदाग्रही को अपना स्वार्थ (खुदगर्जी) प्रिय लगता है, गुणवान् प्रिय नहीं लगता। उसकी दोस्ती मूर्खों के

साथ ही होती है, तत्त्ववेत्ताओं के साथ नहीं । जिन्होंने अपने चित्त में कदाग्रह को विश्राम दे रखा है, अथवा कदाग्रह ने जिनके यहाँ विश्राम ले रखा है अथवा कदाग्रह के कारण जो विश्रान्त हो (थक) गये हैं या व्याकुल हो रहे हैं, उन अधमाधम पुरुषों की स्थिति ऐसी ही होती है ।।२१।।

इदं विदंस्तत्वमुदारबुद्धिरसद्ग्रहं यस्तृणवज्जहाति ।
जहाति नैनं कुलजेव योषिद् गुणानुरक्ता दयितं यशःश्रीः ।।२२।।

भावार्थ : इस प्रकार जो उदारबुद्धि कदाग्रह के तत्त्व को जानकर इस मिथ्याग्रह को तिनके की तरह छोड़ देता है, उस लोकवल्लभ पुरुष को उसके गुणों में अनुरक्त यशोलक्ष्मी उसी प्रकार नहीं छोड़ती, जैसे कुलवती गुणानुरक्त स्त्री अपने पति को नहीं छोड़ती । श्लोकगत 'यशः' शब्द ग्रन्थकार के 'यशोविजय' नाम को सूचित करता है ।।२२।।

।। इति असद्ग्रहत्यागाधिकारः ।।

• • •

अधिकार पन्द्रहवाँ

[योग-स्वरूप]

असद्ग्रहव्ययाद् वान्तमिथ्यात्वविषविप्रुषः ।
सम्यक्त्वशालिनोऽध्यात्मशुद्धेर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१॥

भावार्थ : दुराग्रह के मिट जाने पर जिसने मिथ्यात्व-विष-बिन्दुओं का वमन कर दिया है, उस अध्यात्म के शुद्धिकर्त्ता, सम्यक्त्वशाली का योग सिद्ध होता है ॥१॥

कर्मज्ञानविभेदेन स द्विधा तत्र चाऽऽदिमः ।
आवश्यकादिविहितक्रियारूपः प्रकीर्तितः ॥२॥

भावार्थ : वह योग कर्म और ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है । उसमें से प्रथम कर्मयोग को आवश्यकादि विधिविधानरूप क्रियारूप बताया है ॥२॥

शारीरस्पन्दकर्मात्मा, यदयं पुण्यलक्षणम् ।
कर्मोऽतनोति सद्रागात् कर्मयोगस्ततः स्मृतः ॥३॥

भावार्थ : चूंकि शरीर के स्पन्दन (हलचल) रूपी कर्मस्वरूप यह कर्मयोग शुभ रुचि और सद्भाव से प्रेमपूर्वक पुण्यलक्षण वाली क्रिया करता है, इसलिए इसे कर्मयोग कहा गया है ॥३॥

आवश्यकादिरागेण वात्सल्याद् भगवद्गिराम् ।
प्राप्नोति स्वर्गसौख्यानि न याति परमं पदम् ॥४॥

भावार्थ : आवश्यकादि क्रिया के प्रति (शुभ) राग एवं भगवद्वाणी के प्रति वात्सल्य होने से (कर्मयोग से) साधक देवलोक के सुख पाता है, लेकिन ऐसा साधक मोक्षपद नहीं प्राप्त करता ॥४॥

ज्ञानयोगस्तपःशुद्धमात्मरत्येकलक्षणम् ।
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्षसुखसाधकः ॥५॥

भावार्थ : जब एकमात्र आत्मा में ही प्रीति (रुचि या श्रद्धा) हो, तथा इन्द्रियों के विषयों से उन्मनीभाव उत्पन्न होता है, तब शुद्धतप होता है, और वही ज्ञानयोग है, जो मोक्षसुख का साधक है ॥५॥

न परप्रतिबन्धोऽस्मिन्नल्पोऽप्येकात्मवेदनात् ।
शुभं कर्माऽपि नैवाऽत्र व्याक्षेपायोपजायते ॥६॥

भावार्थ : इस ज्ञानयोग में सिर्फ आत्मा का ही ज्ञान (वेदन) होता है, इसलिए दूसरे (पर) का प्रतिबन्ध जरा भी नहीं होता; क्योंकि ज्ञानयोग में शुभकर्म (क्रिया) भी व्याक्षेप (आत्मध्यानभंग) के लिए नहीं होता ॥६॥

न ह्यप्रमत्तसाधूनां क्रियाऽप्याश्यकादिका ।
नियता ध्यानशुद्धत्वाद् यदन्यैरप्यदः स्मृतम् ॥७॥

भावार्थ : अप्रमत्त साधुओं के लिए आवश्यक आदि क्रियाएँ भी नियमितरूप से करनी नहीं होती (उनके लिए प्रतिबन्ध नहीं); क्योंकि वे ध्यान से ही शुद्ध होते हैं। यह बात अन्यदर्शनी लोगों ने भी निम्नोक्त प्रकार से कही है ॥७॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥८॥

भावार्थ : जिस व्यक्ति की आत्मा में ही प्रीति है, जो आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं होता ॥८॥

नैवं तस्य कृतेनाऽर्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥९॥

भावार्थ : क्योंकि इस संसार में उस पुरुष के करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है। उसे सर्वभूतों के प्रति उसके कुछ भी स्वार्थ का आलम्बन (सम्बन्ध) नहीं है ॥९॥

अवकाशो निषिद्धोऽस्मिन्नरत्यानन्दयोरपि ।
ध्यानावष्टभ्भतः क्वाऽस्तु तत्क्रियाणां विकल्पनम् ॥१०॥

भावार्थ : इस ज्ञानयोग में अरति और आनन्द अवकाश भी निषिद्ध है। क्योंकि ध्यान के आश्रय (स्थिरता) के कारण उसे क्रिया करने का विकल्प (कल्पना) ही कहाँ से हो सकता है? ॥१०॥

देहनिर्वाहमात्रार्था याऽपि भिक्षाटनादिका ।

क्रिया सा ज्ञानिनोऽसंगान्नैव ध्यानविघातिनी ।।११।।

भावार्थ : वह केवल शरीरनिर्वाह के लिए जो भिक्षाचरी आदि क्रियाएँ करता है, वे भी ज्ञानी की असंगता (अनासक्ति) के कारण उसके ध्यान का विघात (भंग) करने वाली नहीं होतीं ।।११।।

रत्नशिक्षा दृगन्या हि तन्नियोजनदृग्यथा ।

फलभेदात्तथाचारक्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ।।१२।।

भावार्थ : जैसे रत्नपरीक्षा का प्रशिक्षण लेते समय की दृष्टि अलग होती है और रत्नपरीक्षा करते समय की दृष्टि भी फल के अन्तर के कारण अलग होती है, वैसे ही ज्ञानी की आचारक्रिया में भी भेद होता है ।।१२।।

ध्यानार्था हि क्रिया सेयं प्रत्याहृत्य निजं मनः ।

प्रारब्धजन्मसंकल्पादात्मज्ञानाय कल्पते ।।१३।।

भावार्थ : अतः ध्यानार्थ की हुई यह क्रिया प्रारब्धजन्म के संकल्प से अपने मन को वापस लौटाने पर आत्मज्ञान के लिए समर्थ हो जाती है ।।१३।।

स्थिरीभूतमपि स्वान्तं रजसा चलतां व्रजेत् ।

प्रत्याहृत्य निगृह्याति ज्ञानी यदिदमुच्यते ।।१४।।

भावार्थ : मन स्थिर हो गया हो तो भी रजोगुण (राग) से चंचल हो जाता है। इसलिए ज्ञानी उसे पुनः खींचकर उसका निग्रह कर लेता है, जिसके सम्बन्ध में आगे कहा गया है ॥१४॥

शनैः शनैरूपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१५॥

भावार्थ : धृति (स्थिरता या संतोष) से गृहीत (वसीकृत) बुद्धि से धीरे-धीरे उपशम पाता (शान्त होता) जाय। फिर मन को आत्मा में स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है ॥१५॥

यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१६॥

भावार्थ : चंचल और अस्थिर मन जिस-जिस संकल्पादि से बाहर निकलता है, वहाँ से रोककर उसे आत्मा के ही अधीन (वश में) करे। गीता के इन दो श्लोकों में मन को एकाग्र करने के उपाय बताए गए हैं। इस प्रकार योगी एक विषय से दूसरे विषय में जाते हुए चपल (अन्यान्यविषयों को ग्रहण करने के स्वभाव वाले) मन को वह जिस-जिस संकल्प व्याक्षेप से बाहर निकलता है, उस समय व्याक्षेप से रोककर (ज्ञानरूपी डोरी से बाँधकर) धीरे-धीरे धीरतायुक्त बुद्धि से

स्थिर करता है, तथा उसे आत्मा के अधीन (उसमें तल्लीन) कर देता है ॥१६॥

अतएवादृढस्वान्तः कुर्याच्छास्त्रोदितां क्रियाम् ।
सकलां विषयप्रत्याहरणाय महामतिः ॥१७॥

भावार्थ : इसलिए जिसका मन दृढ़ नहीं है, उस महामति पुरुष को मन को विषयों से वापस खींचने के लिये शास्त्रोक्त समस्त क्रियाएँ करनी चाहिए ॥१७॥

श्रुत्वा पैशाचिकीं वार्तां कुलवध्वाश्च रक्षणम् ।
नित्यं संयमयोगेषु व्यापृतात्मा भवेद्यतिः ॥१८॥

भावार्थ : पिशाच (भूत) की और कुलवधू की रक्षा की कथा सुनकर मुनि को सदा चारित्र के आचरण में ओतप्रोत हो जाना चाहिए। उक्त दोनों कथाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं – ॥१८॥

या निश्चयैकलीनानां क्रिया नातिप्रयोजना: ।
व्यवहारदशास्थानां ता एवातिगुणावहा: ॥१९॥

भावार्थ : जो क्रियाएँ केवल निश्चय में ही लीन हुए मुनियों के लिए अतिप्रयोजन वाली नहीं है, वे ही क्रियाएँ व्यवहारदशा में रहे हुए साधकों के लिए अत्यन्त गुणकारक हैं ॥१९॥

कर्मणोऽपि हि शुद्धस्य श्रद्धामेधादियोगतः ।
अक्षतं मुक्तिहेतुत्वं ज्ञानयोगानतिक्रमात् ॥२०॥

भावार्थ : श्रद्धा, मेघा (निर्मलबुद्धि) आदि के योग से शुद्धक्रिया करने वाले के लिए वे भी ज्ञानयोग के अतिक्रमरूप न होने से अक्षत मुक्ति की कारण होती हैं। सर्वज्ञोक्त एवं विधिपूर्वक की हुई क्रिया भी जिनवचन के प्रति उत्कट श्रद्धा, और सूक्ष्म अर्थग्रहण-समर्थ ग्रन्थज्ञान वाली बुद्धि, आदि शब्द से धृति, धारणा, अनुप्रेक्षा वगैरह के योग से अर्थात् कायोत्सर्गादि क्रियाओं में उपयोग से उपर्युक्त ज्ञानयोग का उल्लंघन न होने से (अर्थात् इस तरीके के कर्मयोग भी ज्ञानयोगत्व को प्राप्त होने से) अक्षत=परिपूर्ण मोक्ष की कारणभूत बन जाती हैं, क्योंकि उससे मन का निरोध होता है, कर्म की निर्जरा भी होती है ॥२०॥

अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा योगिनां चित्तशुद्धये ।
ज्ञानपाके शमस्यैव यत्परैरप्यदः स्मृतम् ॥२१॥

भावार्थ : योगाभ्यासकाल में योगियों को चित्तशुद्धि के लिए सत्क्रिया की अपेक्षा होती है और ज्ञान की परिपक्वता में केवल शम की ही अपेक्षा होती है, जिसे अन्यदर्शनियों ने भी बताया है ॥२१॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥२२॥

भावार्थ : योगारोहण करना चाहने वाले मुनि के योग का कारण कर्म कहलाता है, और योगारूढ़ होने के बाद उसी

मुनि के लिए शम (समत्व) कारण कहलाता है। ध्यानादि योग में तथा मन की शुद्धि में आरूढ़ होने के लिए मुनि को सत्क्रिया–कर्मरूपी कारण जरूरी है, ऐसा योगीश्वरों ने कहा है, परन्तु वही साधक जब योगारूढ़ हो जाता है (ध्यानादियोग को प्राप्त हो जाता है) तब उसे शम की ही अपेक्षा रहती है। क्योंकि शमभाव में ही योगारूढ़दशा स्थिर रहती है ॥२२॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥२३॥

भावार्थ : जब साधक इन्द्रियों के विषयों में तथा कर्मों में आसक्त नहीं होता, तब वह सर्वसंकल्पत्यागी योगी योगारूढ़ कहलाता है ॥२३॥

ज्ञानं क्रियादिहीनं, न क्रिया वा ज्ञानवर्जिता ।
गुणप्रधानभावेन दशाभेदः किलैतयोः ॥२४॥

भावार्थ : क्रिया से रहित ज्ञान ज्ञान नहीं है, और ज्ञान से वर्जित क्रिया भी क्रिया नहीं है। परन्तु इन दोनों में गौणता और मुख्यता को लेकर अवस्था (दशा) का भेद है ॥२४॥

ज्ञानिनां कर्मयोगेन चित्तशुद्धिमुपेयुषाम् ।
निरवद्यप्रवृत्तीनां ज्ञानयोगौचिती ततः ॥२५॥

भावार्थ : इसलिए निरवद्य प्रवृत्ति वाले तथा कर्मयोग से चित्त की शुद्धि को प्राप्त करने वाले ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग का औचित्य है ॥२५॥

अतएव हि सुश्राद्धचरणस्पर्शनोत्तरम् ।
दुष्पालश्रमणाचारग्रहणँ विहित तं जिनैः ॥२६॥

भावार्थ : इसी कारण पहले सुश्रावक के चारित्र (आचरण) का स्पर्श करने के बाद पालने में दुष्कर श्रमणाचार ग्रहण करने का विधान जिनेश्वरों ने किया है ॥२६॥

एकोद्देशेन संवृत्तं कर्म यत् पौर्वभूमिकम् ।
दोषोच्छेदकरं तत्स्याज्ज्ञानयोगप्रवृद्धये ॥२७॥

भावार्थ : पूर्वभूमिका के रूप में जो कर्म एक के उद्देश से किया हो, वह कर्म दोषों को नष्ट करके ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए होता है ॥२७॥

अज्ञानिनां तु यत्कर्म न ततश्चित्तशोधनम् ।
यागादेरतथाभावान्म्लेच्छादिकृतकर्मवत् ॥२८॥

भावार्थ : अज्ञानीजनों का जो कर्म (क्रिया) है, उससे चित्तशुद्धि नहीं होती, क्योंकि म्लेच्छ वगैरह तमोगुणी लोगों द्वारा किए हुए कर्म की तरह यज्ञादि (स्थूल) क्रियाएँ करने से उनमें तथा प्रकार का भाव पैदा नहीं होता ॥२८॥

न च तत्कर्मयोगेऽपि फलसंकल्पवर्जनात् ।
संन्यासो ब्रह्मबोधाद्वा सावद्यत्वात् स्वरूपतः ॥२९॥

भावार्थ : वे यज्ञयागादि कर्मयोग होते हुए भी उनमें फल के संकल्प के त्याग से अथवा ब्रह्म के बोध से सन्यास

हो नहीं सकता, क्योंकि (याग या ब्रह्मबोध दोनों) स्वरूप से ही सावद्य—पापयुक्त हैं ॥२९॥

नो चेदित्थं भवेच्छुद्धिर्गोर्हिंसादेरपि स्फुटा ।
श्येनाद्वा वेदविहिताद् विशेषानुपलक्षणात् ॥३०॥

भावार्थ : अगर ऐसा न हो तो फिर गोहिंसा आदि से स्पष्टरूप से मनःशुद्धि होने लगेगी, अथवा वेदविहित श्येनयाग से मनःशुद्धि हो जायेगी; क्योंकि उन दोनों में कोई विशेषता (अन्तर) नहीं दिखती ॥३०॥

सावद्यं कर्म नो तस्मादादेयं बुद्धिविप्लवात् ।
कर्मोदयागते त्वस्मिन्न संकल्पादबन्धनम् ॥३१॥

भावार्थ : इससे बुद्धि का विपर्यास होता है, इसीलिए सावद्यकर्म ग्रहण करने योग्य नहीं है । कदाचित् कर्म के उदय से ऐसा सावद्यकर्म प्राप्त हो गया हो तो उसमें संकल्प न होने के कारण वह पापकर्मबन्धक नहीं होता ॥३१॥

कर्माऽप्याचरतो ज्ञातुर्मुक्तिभावो न हीयते ।
तत्र संकल्पजो बन्धो गीयते यत्परैरपि ॥३२॥

भावार्थ : ज्ञानी पुरुष के द्वारा कर्म का आचरण होने पर भी उसके मुक्तिभाव का ह्रास नहीं होता; क्योंकि उसमें संकल्प से ही बन्ध उत्पन्न होता है, इस विषय में अन्य दर्शनकारों ने भी कहा है ॥३२॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥३३॥

भावार्थ : जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान है और वही समस्त कर्म करने वाला, एवं युक्त (कर्मयोगी) है ॥३३॥

कर्मण्यकर्म वाकर्म कर्मण्यस्मिन्नुभे अपि ।
नोभे वा भंगवैचित्र्यादकर्मण्यपि नो मते ॥३४॥

भावार्थ : कर्म में अकर्म माना है, अथवा अकर्म में कर्म माना है और ये दोनों इस कर्मयोग में माने हैं, अथवा ये दोनों इस कर्मयोग में नहीं माने हैं, क्योंकि भंगों (विकल्पों) की विचित्रता है ! इस कारण अकर्म में भी ये नहीं माने गये हैं ॥३४॥

कर्मनैष्कर्म्यवैषम्यमुदासीनो विभावयन् ।
ज्ञानी न लिप्यते भोगैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३५॥

भावार्थ : उदासीन ज्ञानी कर्मयोग और निष्कर्म (ज्ञान) योग की विषमता (असदृशता) पर विचार करते हुए जल से कमल के पत्ते की तरह भोगों में लिप्त नहीं होता ॥३५॥

पापाकरणमात्राद्धि, न मौनं विचिकित्सया ।
अनन्यपरमात् साम्याज्ज्ञानयोगी भवेन्मुनिः ॥३६॥

भावार्थ : केवल पापकर्म न करने से ही विचिकित्सा के कारण मुनित्व नहीं कहलाता, अपितु परम उत्कृष्ट समता से ज्ञानयोगी मुनि कहलाता है ॥३६॥

विषयेषु न रागी वा, द्वेषी वा मौनमश्नुते ।
समं रूपं विदंस्तेषु न ज्ञानयोगी न लिप्यते ॥३७॥

भावार्थ : ज्ञानयोगी विषयों में रागी या द्वेषी नहीं होता, इसी कारण वह मुनित्व अर्जित कर लेता है। विषयों में समान-रूप जानकर ज्ञानयोगी उनमें लिप्त (आसक्त) नहीं होता ॥३७॥

सत्तत्वचिन्तया यस्याभिसमन्वागता इमे ।
आत्मवान् ज्ञानवान् वेदधर्मब्रह्ममयो हि सः ॥३८॥

भावार्थ : ये शब्दादि विषय यथार्थस्वरूप के चिन्तनरूप में जिस साधक के अपने उपभोग में भलीभांति आ गए हैं, वही आत्मवान् है, ज्ञानवान् है, वेदमय है, धर्ममय है और ब्रह्ममय है ॥३८॥

वैषम्यबीजमज्ञानं निघ्नन्ति ज्ञानयोगिनः ।
विषयांस्ते परिज्ञाय लोकं जानन्ति तत्वतः ॥३९॥

भावार्थ : ज्ञानयोगी विषमता के बीजरूप अज्ञान को ही खत्म कर देते हैं। वे विषयों को समग्ररूप से जानकर लोक को तत्त्वतः जानते हैं ॥३९॥

इतश्चापूर्वविज्ञानाच्चिदानन्दविनोदिनः ।
ज्योतिष्मन्तो भवन्त्येते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥४०॥

भावार्थ : इसके बाद वे ज्ञानयोगी अपूर्वविज्ञान से चिदानन्द के विनोदी बनकर ज्ञान से पापों का नाश करके ज्ञान-ज्योतिर्मय बन जाता है ॥४०॥

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या पर्यायक्रमवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥४१॥

भावार्थ : दीक्षापर्याय के क्रम की वृद्धि के साथ जो तेजोलेश्या की वृद्धि भगवती आदि सूत्रों में कही गई है, वह इस प्रकार के योगी के लिए उचित है, योग्य है ॥४१॥

विषमेऽपि समेक्षी यः स ज्ञानी स च पण्डितः ।
जीवन्मुक्तः स्थिरं ब्रह्म तथा चोक्तं परैरपि ॥४२॥

भावार्थ : जो विष में भी समदृष्टि रखता है, वही ज्ञानी है, पण्डित है, जीवन्मुक्त है और स्थिर तथा ब्रह्म भी वही है। अन्य दर्शनकारों ने भी यही कहा है। जाति, कुल, रूप, विनय, विद्या, ऐश्वर्य, बुद्धि आदि से हीन या अधिक (विषम) जीवों को देखकर जिस आत्मा में समदृष्टि है, अर्थात् जो समभाव से देखता है, वही पुरुष सर्व ज्ञेयवस्तु का ज्ञाता है, वही पण्डित (विद्वता के फलस्वरूप क्रिया में दक्ष) है, वह संसार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त=इस जन्म में कर्मबन्धरहित है। और वही स्थिर (निश्चल) परमात्मस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। यही बात भगवद्गीता अ.५ श्लोक १८ में कही गई है— ॥४२॥

विद्या-विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥४३॥

भावार्थ : विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल आदि पर पण्डित सर्वत्र समदर्शी होते हैं ॥४३॥

इहैव तैर्जितः सर्गो यषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥४४॥

भावार्थ : जिनका मन समता में स्थित हो गया है, उन्होंने इसी जन्म में संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समरूप है । इस कारण वे इस ब्रह्म में ही स्थित हैं, यह समझना चाहिए ॥४४॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥४५॥

भावार्थ : ब्रह्म में स्थित, स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि वाला) एवं असम्मूढ़ (सम्मोहरहित) ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मज्ञानी) प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित नहीं होता तथा अप्रिय पाकर उद्विग्न नहीं होता ॥४५॥

अर्वाग्दशायां दोषाय वैषम्ये साम्यदर्शनम् ।
निरपेक्षमुनीनां तु राग-द्वेषक्षयाय तत् ॥४६॥

भावार्थ : अर्वाग्दशा की विषमता में समदृष्टि (साम्यदर्शन) दोष के लिए होती है, जबकि निरपेक्षमुनि की वही समदृष्टि रागद्वेष के क्षय करने के लिए होती है ॥४६॥

रागद्वेषक्षयादेति ज्ञानी विषयशून्यताम् ।
छिद्यते भिद्यते चाऽयं, हन्यते वा न जातुचित् ॥४७॥

भावार्थ : ज्ञानी राग-द्वेष के क्षय होने से विषयों की शून्यता को प्राप्त कर लेता है । उसका कदापि किसी के द्वारा छेदन, भेदन या विनाश नहीं हो सकता ॥४७॥

अनुस्मरति नातीतं, नैव कांक्षत्यनागतम् ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु समो मानापमानयोः ॥४८॥

भावार्थ : ज्ञानी पुरुष बीते हुए समय (अतीत की बातों का) स्मरण नहीं करते, तथा अनागत की इच्छा नहीं करते एवं शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान इन सभी स्थितियों में सम रहते हैं । अब आठ श्लोकों द्वारा ज्ञानयोगी का स्वरूप बताते हैं— ॥४८॥

जितेन्द्रियो जितक्रोधो मानमायानुपद्रुतः ।
लोभसंस्पर्शरहितो, वेदखेदविवर्जितः ॥४९॥

भावार्थ : वे (ज्ञानयोगी) जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, मान और माया के उपद्रव से रहित, लोभ के स्पर्श से रहित, एवं वेदोदयजनित काम की पीड़ा से मुक्त होते हैं ॥४९॥

सन्निरुध्यात्मनाऽत्मानं स्थितः स्वकृतकर्मभित् ।
हठप्रयत्नोपरतः सहजाचारसेवनात् ॥५०॥

भावार्थ : वह (ज्ञानयोगी) आत्मा से आत्मा (मन या स्वभाव) को रोककर स्थित रहता है, स्वकृत कर्मों का भेदन करता है। सहज आचार का पालन करने के कारण वह हठ (बलात्) प्रयोगों से निवृत्त (उपरत) रहता है ॥५०॥

लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तो मिथ्याचारप्रपञ्चहृत् ।
उल्लसत्कण्डकस्थानः परेण परमाश्रितः ॥५१॥

भावार्थ : तथा लोकसंज्ञा से मुक्त मिथ्या-आचार के प्रपञ्च का नाशक, कण्डकस्थान में उल्लास रखने वाला तथा उत्कृष्ट भाव से आत्मा का आश्रित होता है ॥५१॥

श्रद्धावानाज्ञया युक्तः शस्त्रातीतो ह्यशस्त्रवान् ।
गतो दृष्टेषु निर्वेदमनिह्नुतपराक्रमः ॥५२॥

भावार्थ : तथा श्रद्धावान्, जिनाज्ञा से युक्त, शस्त्रों को भी मात करने वाला (अशुभ अध्यवसायशस्त्रमुक्त), तथापि बाह्यशस्त्रों से रहित, पौद्गलिक पदार्थों के प्रति निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त और अपनी आत्मशक्ति (आत्मवीर्य) को नहीं छिपाने वाला ॥५२॥

निक्षिप्तदण्डो ध्यानाग्निर्दग्धपापेन्धनव्रजः ।
प्रतिस्त्रोतोऽनुगतत्वेन लोकोत्तरचरित्रभृत् ॥५३॥

भावार्थ : वह दण्ड से दूर, ध्यानरूपी अग्नि से पापरूपी काष्ठसमूह का जलाने वाला एवं लोकप्रवाह से

विपरीत अनुगमन करने (प्रतिस्रोतोऽनुगामी होने) से लोकोत्तरचरित्र का धारक होता है ।।५३।।

लब्धान् कामान् बहिःकुर्वन्नकुर्वन् बहुरूपताम् ।
स्फारीकुर्वन् परं चक्षु रपरं च निमीलयन् ।।५४।।

भावार्थ : प्राप्त हुए काम-भोगों को दूर ठेलता हुआ, तथा बहुरूपियापन नहीं धारण करने वाला, वह ज्ञानयोगी ज्ञानचक्षु को विकसित करता (खोलता) है और अज्ञानचक्षु को बन्द करता है। ज्ञानयोगी प्राप्त हो सकने वाले इष्ट कामों (भोगों) को मन रूपी घर से बाहर फेंक देता है, उनका बहिष्कार कर देता है, वह क्षणभर में रागी, क्षण में विरागी, एक क्षण में रुष्ट और दूसरे ही क्षण तुष्ट; इस प्रकार का बहुरूपियापन कदापि नहीं अपनाता । वह उस समय निर्मलता के कारण उत्कृष्ट (ज्ञानरूपी) नेत्रों को उघाड़ देता है और दूसरे चर्मनेत्रों-अज्ञाननेत्रों को बन्द कर देता है। अर्थात् वह आत्मध्यान में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसके अज्ञाननेत्र स्वतः=सर्वथा बन्द हो जाते हैं, अज्ञान स्वयमेव भाग जाता है ।।५४।।

पश्यन्नन्तर्गतान् भावान् पुर्णभावमुपागतः ।
भुञ्जानोऽध्यात्मसाम्राज्यमवशिष्टं न पश्यति ।।५५।।

भावार्थ : और फिर वह अपनी आत्मा में रहे हुए पदार्थों का निरीक्षण करता हुआ पूर्णता (पूर्णभाव) को प्राप्त

कर लेता है और अध्यात्मराज्य का निष्कंटक उपभोग करता हुआ अन्य कुछ (किसी को) भी नहीं देखता ॥५५॥

श्रेष्ठो हि ज्ञानयोगोऽयमध्यात्मन्येव यज्जगौ ।
बन्धप्रमोक्षं भगवान् लोकसारे सुनिश्चितम् ॥५६॥

भावार्थ : अध्यात्ममार्ग में यह ज्ञानयोग सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् ने लोकसार में अत्यन्त निश्चित बन्ध का मोक्ष बताया है ॥५६॥

उपयोगैकसारत्वादाश्वसंमोहबोधतः ।
मोक्षाप्तेर्युज्यते चैतत्तथा चोक्तं परैरपि ॥५७॥

भावार्थ : उपयोग ही एकमात्र सार होने से इसीसे शीघ्र सम्मोहरहित बोध होता है । इसलिए मोक्ष की प्राप्ति में यही (ज्ञानयोग ही) युक्तियुक्त है, अन्य दर्शनकारों ने भी यही कहा है ॥५७॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥५८॥

भावार्थ : योगी तपस्वियों से अधिक होता है, (योगी) पण्डितों से भी अधिक माना गया है । कर्म (क्रिया) काण्ड करने वालों से भी योगी अधिक होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन ॥५८॥

समापत्तिरिह व्यक्तमात्मनः परमात्मनि ।
अभेदोपासनारूपस्ततः श्रेष्ठतरोह्ययम् ॥५९॥

भावार्थ : इस ज्ञानयोग में प्रवर्तमान आत्मा को परमात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है। इस कारण यह अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग ही सबसे श्रेष्ठ है ॥५९॥

उपासना भागवती सर्वेभ्योऽपि गरीयसी ।
महापापक्षयंकरी तथा चोक्तं परैरपि ॥६०॥

भावार्थ : भगवान की उपासना सबसे बड़ी है, तथा वह महापाप का क्षय करने वाली है। इस सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों ने भी कहा है ॥६०॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनाऽन्तान्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥६१॥

भावार्थ : सभी योगियों में जो श्रद्धावान् योगी मेरे अन्दर स्थित अन्तरात्मा के रूप में सदा मुझे भजता है, उसे ही मैने अत्यन्त योग्य माना है। इस श्लोक का रहस्यार्थ यह है कि भक्ति के बिना समस्त योग निष्फल हैं। भक्ति में ही सभी योगों का समावेश हो जाता है। परब्रह्म के उपाय के उपासकों=समस्त योगियो में जो श्रद्धावान् (मुमुक्षु) मेरे अन्दर स्थित अन्तरात्मा के रूप में (आत्मरूप में) मेरी उपासना करता=भक्ति करता है; उसे मैने सभी योगियों में श्रेष्ठ माना है ॥६१॥

उपास्ते ज्ञानवान् देवं यो निरञ्जनमव्ययम् ।
स तु तन्मयतां याति ध्याननिर्धूतकल्मषः ॥६२॥

भावार्थ : जो ज्ञानी पुरुष निरञ्जन और अविनाशी देव (परमात्मा) की उपासना करता है, वह ध्यान के द्वारा पापों का नाश करके तन्मयता=देवरूपता को प्राप्त कर लेता है ॥६२॥

विशेषमप्यजानानो यः कुग्रहविवर्जितः ।
सर्वज्ञं सेवते सोऽपि सामान्ययोगमास्थितः ॥६३॥

भावार्थ : जो मुमुक्षु विशेष को नहीं जानता हुआ भी कदाग्रह से रहित है, तथा जो सर्वज्ञ की सेवा करता है, वह भी सामान्ययोग का आश्रय लेकर टिका हुआ है ॥६३॥

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्प्रतिपत्तिश्च यावताम् ।
सर्वेऽपि ते तमापन्ना मुख्यं सामान्यतो बुधाः ॥६४॥

भावार्थ : सर्वज्ञ मुख्य है, वह एक ही है, उसपर ऐसी प्रतिपत्ति (भक्तिभावना) जितने भव्यों को है, वे सब पण्डित सामान्यतया मुख्यरूप से उसी सर्वज्ञ को प्राप्त हैं ॥६४॥

न ज्ञायते विशेषस्तु सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः ।
अतो न ते तमापन्ना विशिष्य भुवि केचन ॥६५॥

भावार्थ : असर्वज्ञ सर्वथा विशेष को नहीं जानते; इसलिए वे (आचार्य) पृथ्वी पर किसी देव को विशेषतः सर्वज्ञरूप में मानते हैं, परन्तु वे वास्तविक सर्वज्ञ को प्राप्त नहीं करते ॥६५॥

सर्वज्ञप्रतिपत्त्यंशात् तुल्यता सर्वयोगिनाम् ।
दूरासन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं निहन्ति न॥६६॥

भावार्थ : सर्वज्ञ की उपासनारूप अंश से समस्त योगियों की समानता है । इसलिए दूर या समीप इत्यादि भेद उनके सेवकत्व को नष्ट नहीं करता । सर्व यानी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले योगियों (परब्रह्म के उपाय के आराधकों) की सर्वज्ञ सेवा के अंश से (परिपूर्ण ब्रह्मरूप केवली की भक्ति=आराधनारूप अंश से), अर्थात् मोक्ष की आराधना के प्रकार से तुल्यता (समानता) है । परन्तु दूर (पुद्गलपरावर्त्त आदि चिरकाल के बाद महाकष्ट से प्राप्त करने) तथा आसन्न यानी अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त करने के बाद तथा आदि शब्द से सम्यक्त्व-प्राप्ति, मार्गानुसारीपद-प्राप्ति वगैरह जो भेद हैं, यानी मोक्ष के साधनों की भिन्नता है, वह उनके सर्वज्ञ-सेवकत्व का नाश नहीं कर सकती । जैसे प्रधान आदि राजा के निकटवर्ती सेवक होते हैं और कोई द्वारपाल आदि दूर के सेवक होते हैं, पर वे सभी सेवक कहलाते हैं, सभी राजा के आश्रित होते हैं, इसी प्रकार सर्वज्ञ के सेवक, चाहे वे निकटस्थ हों, या दूरस्थ, सभी सेवक कहलाते हैं । भले ही कोई उनमें आसन्नसिद्धिक हों, कोई दूरसिद्धिक; हैं वे सर्वज्ञ के उपासक ही । अथवा दूर और आसन्न शब्द के ये अर्थ भी हो सकते हैं-जिनसम्बन्धी ध्यान और क्रियादि के

प्रयत्न में प्रवर्तमान और संक्षिप्तरुचि वाले सर्वज्ञसेवक को मोक्षप्राप्ति शीघ्र (समीप) ही संभव होती है, और वृत्ति के निरोध का क्लेश, इन्द्रियजय, अष्टांगयोग इत्यादि अनुष्ठान के प्रयत्न में प्रवर्त्तमान, अन्यदर्शनगत संक्षिप्तरुचि वाले सर्वज्ञसेवक को चिरकाल के पश्चात् मोक्षप्राप्ति संभव होती है; इस प्रकार का जो अन्तर है, वह भी सर्वज्ञ के उपासकत्व को नष्ट नहीं करता, उन्हें सर्वज्ञ का सेवक मानने से इन्कार नहीं करता ॥६६॥

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव देवतातिशयस्य हि ।
सेवा सर्वैर्बुधैरिष्टा कालातीतोऽपि यज्जगौ ॥६७॥

भावार्थ : माध्यस्थ का आश्रय लेकर ही देव के अतिशय की सेवा समस्त विद्वानों को इष्ट है । इस विषय में कालातीत नाम के आचार्य ने भी कहा है ॥६७॥

अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥६८॥

भावार्थ : दूसरे मुक्तिवादी, अविद्यावादी वगैरह का मार्ग भी मात्र नाम के अन्तर से इसी तत्त्वनीति से व्यवस्थित है ॥६८॥

मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्यात्, संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥६९॥

भावार्थ : मुक्त, बुद्ध या अर्हन्, जो कोई भी ऐश्वर्य से युक्त हो, वही ईश्वर कहलाता है । इसमें केवल संज्ञा (नाम) का ही भेद है ॥६९॥

अनादिशुद्ध इत्यादिर्यो भेदो यस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तंत्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ।।७०।।

भावार्थ : अनादि–शुद्ध इत्यादि शब्दों से ईश्वर का जो भेद विभिन्न दर्शनकारों द्वारा कल्पित है, मैं मानता हूँ, वह भी निरर्थक है ।।७०।।

विशेषस्यापरिज्ञानाद्युक्तीनां जातिवादिनः ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः ।।७१।।

भावार्थ : जातिवादी की युक्तियों का विशेष रूप न जानने के कारण प्रायः विरोध आने के कारण तथा भाव से फल की अभिन्नता होने के कारण दर्शनों का भेद होता है ।।७१।।

अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ।।७२।।

भावार्थ : जिस कारण अविद्या, क्लेश, कर्म, आदि भव (संसार) के कारण हैं, उनमें संज्ञा को लेकर भेद है, उसी कारण सर्वज्ञ भी संज्ञा के भेद के कारण अपने–अपने दर्शनों में बताया गया है । इसलिए सर्वज्ञ की भक्ति का तत्त्व ही (भेद का त्याग करके) एकमात्र प्रधान=श्रेष्ठ है ।।७२।।

अस्याऽपि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ।।७३।।

भावार्थ : इस कर्म का भी जो दूसरे (अविद्या आदि) विचित्र उपाधि वाले भेद पूर्वोक्त कारणों से उस–उस प्रकार से कहे जाते हैं, वे भी बुद्धिमान पुरुषों के लिए व्यर्थ हैं ॥७३॥

ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत्तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥७४॥

भावार्थ : इस कारण उसके भेद का निरूपण करना अनुचित प्रयास है। क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य माना गया है; ॥७४॥

संक्षिप्तरुचिजिज्ञासोर्विशेषानवलम्बनम् ।
चारिसंजीवनीचारज्ञातादत्रोपयुज्यते ॥७५॥

भावार्थ : संक्षेपरुचि वाले जिज्ञासु को विशेष का अवलम्बन न लेना ही यहाँ उसी तरह उपयुक्त है, जिस तरह चारी संजीवनी के चरने का ज्ञान सामान्यरूप से ही उपयुक्त हुआ था ॥७५॥

जिज्ञासापि सतां न्याय्या, यत्परेऽपि वदन्त्यदः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥७६॥

भावार्थ : सत्पुरुषों की जिज्ञासा भी न्यायोचित है, क्योंकि दूसरे (गीता आदि) दर्शनकार भी यही बात कहते हैं कि योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है ॥७६॥

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति चतुर्विधाः ।
उपासकास्त्रयस्तत्र धन्या वस्तुविशेषतः ॥७७॥

भावार्थ : आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के उपासक हैं । वस्तुविशेष के कारण इनमें से तीन उपासक धन्य हैं। (भगवद्गीता अ. ७ श्लो. १६ में इन्हीं नामों से चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया गया है ॥७७॥

ज्ञानी तु शान्तविक्षेपो नित्यभक्तिर्विशिष्यते ।
अत्यासन्नो ह्यसौ भर्तुरन्तरात्मा सदाशयः ॥७८॥

भावार्थ : ज्ञानी तो '**शान्तिविक्षेप**' और '**नित्यभक्तिमान**' विशेषणों से युक्त होता है; क्योंकि अन्तरात्मा-रूप वह सदाशयी (सद्भावना-शील) होने से ब्रह्म (स्वामी) के अत्यन्त निकट होता है ॥७८॥

कर्मयोगविशुद्धस्तज्ज्ञाने युञ्जीत मानसम् ।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥७९॥

भावार्थ : कर्मयोग से विशुद्ध हुआ योगी ज्ञानयोग में अपने चित्त (मन) को जोड़ता (लय करता) है। परन्तु अज्ञानी अश्रद्धावान और संदेहशील होता है, अतः वह नष्ट (योगभ्रष्ट) हो जाता है ॥७९॥

निर्भयः स्थिरनासाग्रदत्तदृष्टिर्व्रतस्थितः ।
सुखासनः प्रसन्नास्यो दिशश्चानवलोकयन् ॥८०॥

देहमध्यशिरोग्रीवमवक्रं धारयन् बुधः ।
दन्तैरसंस्पृशन् दन्तान् सुश्लिष्टाधरपल्लवः ॥८१॥
आर्त्तरौद्रे परित्यज्य धर्मे शुक्ले च दत्तधीः ।
अप्रमत्तो रतो ध्याने ज्ञानयोगी भवेन्मुनिः ॥८२॥

भावार्थ : भयरहित, स्थिर, नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमाया हुआ, व्रत में स्थित, सुखकारक आसन से उपविष्ट, प्रसन्नमुख, दिशाओं की ओर न देखने वाला, देह के मध्यभाग, मस्तक और गर्दन को सीधी रखने वाला ज्ञानी, दाँतों से दाँतों को न छूता हुआ, दोनों ओष्ठपल्लवों को भलीभांति मिलाए हुए, आर्त्त एवं रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यान में बुद्धि को गड़ाए हुए, जो अप्रमत्त और ध्यान में रत है, वह मुनि ज्ञानयोगी होता है ॥८०-८१-८२॥

कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहितः ।
ध्यानयोगं समारूह्य मुक्तियोगं प्रपद्यते ॥८३॥

भावार्थ : कर्मयोग का अभ्यास करके ज्ञानयोग में समाहित हुआ योगी फिर ध्यानयोग पर आरूढ़ होकर मुक्तियोग को प्राप्त कर लेता है ॥८३॥

॥ इति योगस्वरूपाधिकारः ॥

● ● ●

अधिकार सोलहवाँ

[ध्यान-स्वरूप]

स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं चित्तमस्थिरम् ।
भावना चाऽप्यनुप्रेक्षा चिन्ता वा तत् त्रिधा मतम् ॥१॥

भावार्थ : जो चित्त स्थिर है, उसे ही ध्यान समझना चाहिए, और जो चित्त अस्थिर है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्ता समझना चाहिए। इस प्रकार अस्थिर चित्त तीन प्रकार का माना गया है ॥१॥

मुहूर्त्तान्तर्भवेद् ध्यानमेकार्थे मनसः स्थितिः ।
बह्वर्थसंक्रमे दीर्घाऽप्यच्छिन्ना ध्यानसंततिः ॥२॥

भावार्थ : एक आलम्बन (पदार्थ) में अन्तर्मुहूर्त तक मन की स्थिति का रहना ध्यान कहलाता है । अनेक पदार्थों (आलम्बनों) के संक्रमण में लंबी और अविछिन्न जो स्थिति होती है, उसे ध्यानश्रेणी (ध्यानसंतति) कहते हैं ॥२॥

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
तत्स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमोक्षयोः ॥३॥

भावार्थ : आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल यों चार प्रकार का ध्यान कहलाता है । इनमें दो-दो भेद (ध्यान) क्रमशः संसार और मोक्ष के कारणरूप हैं ॥३॥

शब्दादीनामनिष्टानां वियोगासम्प्रयोगयोः ।
चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुषः ॥४॥

इष्टानां प्रणिधानं च सम्प्रयोगावियोगयोः ।
निदानचिन्तनं पापमार्त्तमित्थं चतुर्विधम् ॥५॥

भावार्थ : (१) अनिष्ट शब्दादि विषयों के वियोग की चिन्ता, (२) वेदना से व्याकुल होने की चिन्ता (३) इष्टपदार्थ के संयोग-वियोग होने की चिन्ता और (४) निदान का चिन्तन; इस प्रकार दुष्ट (पापजनक) आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है ॥४-५॥

कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र सम्भवः ।
अनतिक्लिष्टभावानां कर्मणां परिणामतः ॥६॥

भावार्थ : इन चार प्रकार के आर्त्तध्यानियों में, जिसका भाव अतिक्लिष्ट नहीं है, ऐसे कर्म के परिणाम के कारण कापोत, नील और कृष्ण इन तीन लेश्याओं की सम्भावना है ॥६॥

कन्दनं रुदनं प्रोच्चैः शोचनं परिदेवनम् ।
ताडनं लुञ्चनं चेति लिंगान्यस्य विदुर्बुधाः ॥७॥

भावार्थ : क्रन्दन, रुदन, (जोर-जोर से चिल्लाना), अत्यन्त शोक (विलाप) करना, परिदेवन (झूरना), पीटना (छाती कूटना, सिर पीटना, ताडन करना) और लुंचन (उखाड़ना या कपड़े आदि फाड़ना), ये सब आर्त्तध्यानी के चिह्न विद्वानों ने बताए हैं ॥७॥

मोघं निन्दन्निजं कृत्यं, प्रशंसन् परसम्पदः ।
विस्मितः प्रार्थयन्नेताः प्रसक्तश्चैतदर्जने ॥८॥

भावार्थ : अपने निष्फल हुए कृत्य की जो निन्दा करता है, दूसरों की सांसारिक सम्पत्ति की प्रशंसा करता है, विस्मित होकर उन सम्पत्तियों के लिए प्रार्थना (याचना या अभिलाषा) करता है, तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए आसक्त हो जाता है। अपने शिल्प, वाणिज्य आदि कार्यों (व्यवसायों) में भरसक प्रयत्न करने पर भी निष्फल हो जाने पर उक्त निष्फल हुए निज कार्य की निन्दा करता है, दूसरे की सम्पत्तियों=सांसारिक धन आदि का बखान करता है, तथा उन सम्पत्तियों के बारे में चमत्कार से विस्मिय होकर उनकी प्रार्थना (उनको पाने की अभिलाषा) करता है तथा उन सम्पत्तियों को येन-केन-प्रकारेण पाने को अत्यन्त लालायित (आसक्त) रहता है। ऐसे लक्षणों वाले व्यक्ति को आर्त्तध्यानी समझना चाहिए ॥८॥

प्रमत्तश्चेन्द्रियार्थेषु गृद्धो धर्मपराङ्मुखः ।
जिनोक्तमपुरस्कुर्वन्नार्त्तध्याने प्रवर्त्तते ॥९॥

भावार्थ : प्रमत्त, इन्द्रियों के विषयों में गृद्ध (लोलुप), धर्म से विमुख, तथा जिनवचनों को अंगीकार न करनेवाला व्यक्ति आर्त्तध्यान में प्रवृत्त होता है ॥९॥

प्रमत्तान्तगुणस्थानानुगमेतन्महात्मना ।
सर्वप्रमादमूलत्वात्त्याज्यं तिर्यग्गतिप्रदम् ॥१०॥

भावार्थ : प्रमत्तगुणस्थान के अन्त तक रहने वाले एवं तिर्यञ्चगति देने वाले समस्त प्रमाद का मूल कारण यह आर्त्तध्यान महात्मा द्वारा त्याज्य है ॥१०॥

निर्दयं वधबन्धादिचिन्तनं निविड़क्रुधा ।
पिशुनासभ्यमिथ्यावाक् प्रणिधानं च मायया ॥११॥
चौर्यधीर्निरपेक्षस्य तीव्रक्रोधाकुलस्य च ।
सर्वाभिशंकाकलुषं चित्तं च धनरक्षणे ॥१२॥

भावार्थ : अत्यन्त क्रोध करके निर्दयतापूर्वक वध, बन्धन वगैरह का चिन्तन करना प्रथम रौद्रध्यान कहलाता है तथा माया करके पिशुन (चुगली), असभ्य एवं असत्य बोलने का प्रणिधान दूसरा रौद्रध्यान कहलाता है। अपेक्षारहित और तीव्र क्रोध से आकुल-व्याकुल पुरुष द्वारा चोरी करने की बुद्धि तीसरा रौद्रध्यान कहलाता है, धन की रक्षा के सम्बन्ध में सभी पर शंका (शक) करके मन मलिन करना चौथा रौद्रध्यान कहलाता है ॥११-१२॥

एतत्सदोषकरण-कारणानुमतिस्थिति ।
देशविरतिपर्यन्तं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ॥१३॥

भावार्थ : इन दोषों वाले कार्यों को करने, कराने और अनुमोदन करने के रूप में जिसकी स्थिति है, ऐसा चार प्रकार का रौद्रध्यान देशविरतिगुणस्थान तक के जीवों को होता है ॥१३॥

कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र सम्भवः ।
अतिसंक्लिष्टरूपाणां कर्मणां परिणामतः ॥१४॥

भावार्थ : इस (रौद्रध्यान में अतिसंक्लिष्ट रूप कर्मों के परिणाम के कारण कापोत, नील और कष्ण इन तीन लेश्याओं का होना सम्भव है ॥१४॥

उत्सन्नबहुदोषत्वं नानामारणदोषता ।
हिंसादिषु प्रवृत्तिश्च कृत्वाऽघं स्मयमानता ॥१५॥
निर्दयत्वाननुशयौ, बहुमानः परापदि ।
लिंगान्यत्रेत्यदो धीरैस्त्याज्यं नरकदुःखदम् ॥१६॥

भावार्थ : उत्सन्नदोषत्व, बहुदोषत्व, नानाप्रकारदोषत्व, मारणदोषत्व, हिंसा आदि में प्रवृत्ति तथा पाप करके खुश होना, निर्दयता, पश्चात्ताप का अभाव, और दूसरों को आपत्ति में देख कर, बहुमान (हर्ष) होना; ये रौद्रध्यान के चिह्न हैं। अतः धीर पुरुषों को नरक के दुःख देने वाले इस रौद्रध्यान का त्याग करना चाहिए ॥१५-१६॥

अप्रशस्ते इमे ध्याने, दुरन्ते चिरसंस्तुते ।
प्रशस्तं तु कृताभ्यासो, ध्यानमारोढुमर्हति ॥१७॥

भावार्थ : ये दोनों अप्रशस्त ध्यान दुरन्त और चिरपरिचित हैं। इसलिए अभ्यास करके प्रशस्त ध्यान पर आरूढ़ होना उचित है ॥१७॥

भावना देशकालौ च स्वासनालम्बनक्रमान् ।
ध्यातव्यध्यात्रनुप्रेक्षालेश्यालिंगफलानि च ॥१८॥
ज्ञात्वा धर्म्यं ततो ध्यायेच्चतस्त्रस्तत्र भावनाः ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्याख्याः प्रकीर्त्तिताः॥१९॥

भावार्थ : भावना, देश, काल, शुभासन, आलम्बन, अनुक्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्ष, लेश्या, लिंग और फल, इन सबको जानने-समझने के पश्चात् धर्मध्यान में प्रवृत्ति होना चाहिए। इसके विषय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नाम की चार भावनाएँ बताई गई हैं ॥१८-१९॥

निश्चलत्वमसम्मोहो निर्जरा पूर्वकर्मणाम् ।
संगाशंसाभयोच्छेदः फलान्यासां यथाक्रमम् ॥२०॥

भावार्थ : १. निश्चलता, २. असम्मोह, ३. पूर्वकर्मों की निर्जरा, ४. संग की आशंसा और भय का नाश, पूर्वोक्त चारों भावनाओं के क्रमशः ये चारों फल जानने चाहिए ॥२०॥

स्थिरचित्तः किलैताभिर्याति ध्यानस्य योग्यताम् ।
योग्यतैव हि नान्यस्य तथा चोक्तं परैरपि ॥२१॥

भावार्थ : इन भावनाओं से स्थिरचित्त वाला पुरुष ही ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है। दूसरे की योग्यता ही नहीं होती। इस विषय में अन्य दर्शनकारों ने भी कहा है ॥२१॥

चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥२२॥

असंशयं महाबाहो !, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥२३॥
असंयतात्मनो योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥२४॥

भावार्थ : हे कृष्ण ! मन तो अतिचंचल है, प्रबल शत्रु की सेना के समान दृढ़ है। मैं मानता हूँ, उसका निग्रह करना हवा के निग्रह के समान अतिदुष्कर है। हे महाबाहो, अर्जुन ! निःसन्देह मन चंचल है और बड़ी कठिनता से उसका निग्रह हो सकता है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह हो सकता है। हे अर्जुन ! जिसका मन वश में नहीं हुआ, उसके लिये योग दुष्प्राप्य है, ऐसी मेरी मान्यता है। जिसका मन वश में है, वह पुरुष प्रयत्नपूर्वक उपाए करने से योग को प्राप्त कर सकता है ॥२२-२३-२४॥

सदृशप्रत्यावृत्या वैतृष्ण्याद् बहिरर्थतः ।
एतच्च युज्यते सर्वं भावनाभावितात्मनि ॥२५॥

भावार्थ : बाह्य अर्थ से समान बोध की आवृत्ति द्वारा तृष्णारहित हो जाने पर उपर्युक्त सभी बातें भावनाओं से भावित आत्मा में घटित हो सकती हैं, उपयुक्त हो सकती हैं ॥२५॥

स्त्री-पशु-क्लीब-दुःशीलवर्जितं स्थानमागमे ।
सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषतः ॥२६॥

भावार्थ : सदा स्त्री, पुरुष, नपुंसक और कुशील (दुराचारी, परस्त्रीगामी) से रहित स्थान में निरन्तर रहने की यतियों (मुनियों) के लिए आगम में आज्ञा दी है । और ध्यानकाल में तो विशेषरूप से वैसा स्थान बताया है ॥२६॥

स्थिरयोगस्य तु ग्रामेऽविशेषः कानने वने ।
तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मतः ॥२७॥

भावार्थ : स्थिरयोग वाले योगी के लिए गाँव, जंगल, या उपवन में (निवास की) कोई विशेषता नहीं है । इस दृष्टि से जहाँ जिसके मन का समाधान रहे (मन समाधि में लगे) वही प्रदेश उस ध्यानी के लिए योग्य माना गया है ॥२७॥

यत्र योगसमाधानं कालोऽपीष्टः स एव हि ।
दिन-रात्रि-क्षणादीनां ध्यानिनो नियमस्तु न ॥२८॥

भावार्थ : जिस समय योग की समाधि होती है, वही काल ध्यान के लिए इष्ट है । ध्यानी के लिए दिन, रात, क्षण, घड़ी आदि का कोई नियम नहीं है ॥२८॥

यैवावस्था जिता जातु न स्याद् ध्यानोपघातिनी ।
तथा ध्यायेन्निषण्णो वा स्थितो वा शयितोऽथवा ॥२९॥

भावार्थ : जो जीती (अभ्यस्त की) हुई अवस्था (आसन) ध्यान का उपघात करने वाली न हो, उसी अवस्था में बैठे, खड़े या सोते हुए योगी को ध्यान करना चाहिए । जो

अवस्था (शरीर के अवयवों की स्थिरता) जीती हुई (बहुत अधिक अभ्यास से परिचित=ध्यान की अनुकूलता को लेकर अनुभूत) हो, तथा प्रारम्भ किये हुए धर्मध्यान का विनाश करने वाली कदापि न हो, उसी अवस्था में पद्मासनादि में बैठे हुए, कायोत्सर्गादि में खड़े हुए अथवा दर्भादिक की शय्या पर सोये हुए योगी को ध्यान करना चाहिए—ध्यान में तल्लीन हो जाना चाहिए ॥२९॥

सर्वासु मुनयो देशकालावस्थासु केवलम् ।
प्राप्तास्तन्नियमो नाऽऽसां नियता योगसुस्थता ॥३०॥

भावार्थ : समस्त देश, काल और अवस्थाओं में मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त किया है। इसलिए इनमें देशकालादि का कोई नियम नहीं है। योग की स्थिरता का तो नियम है ही ॥३०॥

वाचना चैव पृच्छा च परावृत्यनुचिन्तने ।
क्रिया चालम्बनानीह सद्धर्मावश्यकानि च ॥३१॥

भावार्थ : इस ध्यान में आरूढ़ होने के लिए वाचना, पृच्छा, आवृत्ति, अनुचिन्तन, क्रिया, सद्धर्म और आवश्यक ये आलम्बनरूप हैं ॥३१॥

आरोहति दृढद्रव्यालम्बनो विषमं पदम् ।
तथा रोहति सद्ध्यानं सूत्राद्यालम्बनाश्रितः ॥३२॥

भावार्थ : जैसे दृढ़ द्रव्य (पदार्थ) के आलम्बन वाला पुरुष विषमस्थान पर आरोहण कर लेता है, वैसे ही सूत्रादि आलम्बनों का आश्रय लिया हुआ योगी सद्ध्यान पर आरूढ़ हो जाता है ॥३२॥

आलम्बनादरोद्भूत–प्रत्यूहक्षययोगतः ।
ध्यानाद्यारोहणभ्रंशो योगिनां नोपजायते ॥३३॥

भावार्थ : आलम्बन का आदर करने से समुत्पन्न विघ्नों के नाश हो जाने के कारण योगियों का ध्यानरूपी पर्वत पर आरोहण करते हुए भ्रंश (पात) नहीं होता ॥३३॥

मनोनिरोधादिको ध्यानप्रतिपत्तिक्रमो जिने ।
शेषेषु तु यथायोगं समाधानं प्रकीर्तितम् ॥३४॥

भावार्थ : केवलज्ञानी में मन के निरोध आदि से लेकर ध्यान की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) का क्रम बताया है । दूसरों के सम्बन्ध में यथायोग्य समाधान (मनोयोग आदि की समाधि) बताया है ॥३४॥

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
धर्मध्यानोपयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥३५॥

भावार्थ : आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करने से धर्मध्यान के लिए उपयुक्त (समर्थ) हुए योगियों के चार प्रकार ध्यातव्य होते हैं ॥३५॥

नयभंगप्रमाणाढ्यां हेतूदाहरणान्विताम् ।
आज्ञां ध्यायेज्जिनेन्द्राणामप्रामाण्याकलंकिताम् ॥३६॥

भावार्थ : नयों, भंगों और प्रमाणों से समृद्ध (व्याप्त); हेतुओं और उदाहरणों से युक्त और अप्रमाण के कलंक से रहित जिनेन्द्रों की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए ॥३६॥

राग-द्वेष-कषायादि-पीड़ितानां जनुष्मताम् ।
ऐहिकामुष्मिकांस्तांस्तान्नानाऽऽपायान् विचिन्तयेत् ॥३७॥

भावार्थ : राग, द्वेष, कषाय आदि से पीड़ित प्राणियों के इहलोक-परलोक-सम्बन्धी उन-उन प्रकार के विविध कष्टों (अपायों) का चिन्तन करना **अपायविचय** नामक दूसरा भेद है ॥३७॥

ध्यायेत् कर्मविपाकं च तं तं योगानुभावजम् ।
प्रकृत्यादि-चतुर्भेदं शुभाशुभविभागतः ॥३८॥

भावार्थ : उस-उस योग के प्रभाव से उत्पन्न हुए और प्रकृतिबन्ध आदि चार प्रकार के बन्ध वाले कर्मों के विपाक का शुभ और अशुभ के विभागपूर्वक ध्यान (चिन्तन) करना **विपाकविचय** नामक तीसरा धर्मध्यान है ॥३८॥

उत्पाद-स्थितिभंगादिपर्यायैर्लक्षणैः पृथक् ।
भेदैर्नामादिभिर्लोकसंस्थानं चिन्तयेद् भृतम् ॥३९॥

भावार्थ : उत्पाद, व्यय और ध्रुव आदि पर्यायों से परिपूर्ण (भरे हुए) लक्षणों से भिन्न-भिन्न सत्ता वाले भेद और नाम आदि से (भरे हुए) लोकसंस्थान (लोकाकृति) का चिन्तन करना, चौथा **लोकसंस्थानविचय** है ॥३९॥

चिन्तयेत्तत्र कर्तारं भोक्तारं निजकर्मणाम् ।
अरूपमव्ययं जीवमुपयोगस्वलक्षणम् ॥४०॥

भावार्थ : उस लोकसंस्थान में स्वयं आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है, भोक्ता है, अरूपी है, अविनाशी है, तथा उपयोगलक्षण से युक्त है, ऐसा चिन्तन करना भी संस्थानविचय नामक धर्मध्यान के अन्तर्गत है ॥४०॥

तत्कर्मजनितं जन्म-जरा-मरणवारिणा ।
पूर्ण-मोहमहावर्तं कामौर्वानलभीषणम् ॥४१॥

आशामहानिलापूर्णकषायकलशोच्छलत् ।
असद्विकल्पकल्लोलचक्रं दधतमुद्धतम् ॥४२॥

हृदि स्त्रोतसिकावेलासम्पातदुरितक्रमम् ।
प्रार्थनावल्लिसन्तानं दुष्पूरविषयोदरम् ॥४३॥

अज्ञानदुर्दिनं व्यापद्विद्युत्पातोद्भवद्भयम् ।
कदाग्रहकुवातेन हृदयोत्कम्पकारिणम् ॥४४॥

विविधव्याधि-संबंधमत्स्य-कच्छपसंकुलम् ।
चिन्तयेच्च भवाम्भोधिं चलद्दोषाद्रिदुर्गमम् ॥४५॥

भावार्थ : उस-उस जीव के कर्मों से उत्पन्न, जन्म, जरा, मृत्युरूप जल से परिपूर्ण, मोहरूपी महावर्त वाली, कामरूपी वडवानल से भयंकर, आशाओं (इच्छाओं) रूपी महावात से पूर्ण, कषायरूपी कलशों से उछलते हुए, असद्विकल्पों रूपी उद्धत (प्रचण्ड) तरंगचक्र को धारण करता हुआ, हृदय में स्त्रोतसिकारूपी वेला की वृद्धि (मन में श्रोत्रादि विषय-वासना के कठोर ज्वार) के कारण दुर्लंघ्य, प्रार्थनारूपी लताओं की परम्परा (सन्तान) वाली, दुःख से पूर्ण हो सके, ऐसे विषयसुखरूपी समुद्र का उदर (मध्यभाग) है। जहाँ अज्ञानरूपी दुर्दिन (मेंघों से ढँका हुआ) है, आपत्ति रूपी बिजलियों के गिरने से भयोत्पादक है, कदाग्रहरूपी कुवात (आंधी) से हृदय को कंपाने वाला है, विविध व्याधिरूपी मछलियाँ, कछुए आदि से व्याप्त है, तथा चंचलता, शून्यता और गर्वदोष रूपी चलायमान पर्वतों से वह दुर्गम है, ऐसे संसाररूपी समुद्र का चिन्तन करना चाहिए ॥४१-४२-४३-४४-४५॥

तस्य सन्तरणोपायं सम्यक्त्वदृढबंधनम् ।
बहुशीलांगफलकं ज्ञाननिर्यामिकान्वितम् ॥४६॥

संवरास्ताश्रवाच्छिद्रं गुप्तिगुप्तं समन्ततः ।
आचारमण्डपोद्दीप्ताऽपवादोत्सर्गभूद्वयम् ॥४७॥

असंख्यैर्दुर्धरैर्योवैर्दुष्प्रधृष्यं सदाशयैः ।
सद्योगकूपस्तम्भाग्रन्यस्ताध्यात्मसितांशुकम् ॥४८॥

तपोऽनुकूलपवनोद्भूतसंवेगवेगतः ।
वैराग्यमार्गपतितं चारित्रवहनं श्रिताः ॥४९॥

सद्भावनाख्यमंजूषान्यस्तसच्चित्तरत्नतः ।
यथाऽविघ्नेन गच्छन्ति निर्वाणनगरं बुधाः ॥५०॥

भावार्थ : उस संसारसागर को पार करने में उपाय (साधन)रूप, सम्यक्त्वरूपी दृढबन्धन वाला, बहुत से (१८ हजार) शीलांगरूपी फलक (तख्ते) वाला, ज्ञानरूपी निर्यामक से युक्त, संवर से आश्रवरूपी छिद्रों को बन्द करने वाला, चारों ओर गुप्तियों से रक्षित, आचाररूपी मंडप से सुशोभित, अपवाद और उत्सर्ग नामक दो भूमिकाओं वाला, असंख्य अजेय सदाशयरूपी योद्धाओं के कारण पराजित करने में असमर्थ सद्योगरूपी कूपस्तम्भ के अग्रभाग में अध्यात्मरूपी श्वेतवस्त्र का मस्तूल चढ़ाया हुआ, तपरूपी अनुकूल वायु से उत्पन्न हुए संवेगरूपी वेग से वैराग्यरूपी पथ पर चारित्ररूपी जलयान चलता है । उस चारित्ररूपी जलयान में बैठकर पण्डितजन सद्भावना नाम की पेटी में सुभचित्तरूपी रत्न को रखकर निर्विध्नता से मोक्षनगर पहुँच जाते हैं । इस प्रकार एकाग्रचित्त से चिन्तन (ध्यान) करना ॥४६-४७-४८-४९-५०॥

यथा च मोहपल्लीशे लब्धव्यतिकरे तथा ।
संसारनाटकोच्छेदाशंकापंकाविले मुहुः ॥५१॥

सज्जीकृतस्वीयभटे नावं दुर्बुद्धिनामिकाम् ।
श्रिते दुर्नीतिनौवृन्दारूढ़शेषभटान्विते ॥५२॥

भावार्थ : जैसे ही मोहरूपी पल्लीपति ने यह वृत्तान्त सुना कि बार-बार वह संसाररूपी नाटक के उच्छेद की शंकारूपी पंक से मलिन हुआ, तभी उसने (मोहराजा ने) अपने सुभटों को सुसज्जित करके दुर्बुद्धि नाम की नौका का आश्रय लिया, और बाकी के योद्धा दुर्नीति नाम की नौका में आरुढ़ हुए ॥५१-५२॥

आगच्छत्यत्र धर्मेशभटौघे रणमण्डपम् ।
तत्त्वचिन्तादिनाराचसज्जीभूते समाश्रिते ॥५३॥

भावार्थ : उसके बाद तत्त्वचिन्ता आदि बाणों से सुसज्ज होकर धर्मराजा का आश्रय लेकर उनके सुभटों का दल समरांगणमण्डप में आ गया ॥५३॥

मिथो लग्ने रणावेशे सम्यग्दर्शनमंत्रिणा ।
मिथ्यात्वमंत्री विषमां प्राप्यते चरमां दशाम् ॥५४॥

भावार्थ : उसके बाद परस्पर युद्ध होने लगा, उसमें सम्यग्दर्शनरूपी मन्त्री ने मिथ्यादर्शनरूपी मन्त्री को अत्यन्त विषम अन्तिम अवस्था में पहुँचा दिया ॥५४॥

लीलयैव निरुध्यन्ते कषायचरटा अपि ।
प्रशमादि-महायौधैः शीलेन स्मरतस्करः ॥५५॥

भावार्थ : प्रशमादि महायोद्धाओं ने कषायरूपी लुटेरों को भी अनायास ही पकड़ लिया और शीलरूपी महायोद्धा ने कामरूपी चोर को गिरफ्तार कर लिया ॥५५॥

हास्यादिषट्लुण्टाकवृन्दं वैराग्यसेनया ।
निद्रादयश्च ताड्यंते श्रुतोद्योगादिभिर्भटैः ॥५६॥

भावार्थ : वैराग्यरूपी सेना ने हास्यादि छः लुटेरों के दल को मार भगाया और निद्रादिरूपी योद्धाओं को श्रुतोद्योगादि सुभटों ने बहुत जोर से पीटा ॥५६॥

भटाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यामार्त्तरौद्राभिधौ भटौ ।
निग्रहेणेन्द्रियाणां च जीयते द्रागसंयमः ॥५७॥

भावार्थ : धर्म और शुक्ल इन दो सुभटों ने आर्त्त और रौद्र नाम के दो भटों को वश में कर लिया और इन्द्रियनिग्रहरूप योद्धा ने तत्काल असंयम को जीत लिया ॥५७॥

क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः ।
नश्यत्यसातसैन्यं च पुण्योदयपराक्रमात् ॥५८॥

भावार्थ : क्षयोपशम नामक योद्धा के भय से चक्षुदर्शनावरणीय आदि भाग गए और पुण्योदय नामक सुभट के पराक्रम से असातारूपी सेना भाग खड़ी हो गई ॥५८॥

सह द्वेषगजेन्द्रेण रागकेसरिणा तथा ।
सुतेन मोहभूपोऽपि धर्मभूपेन हन्यते ॥५९॥

भावार्थ : अन्त में मोहराजा को उनके दोनों पुत्रों–द्वेषगजेन्द्र एवं रागकेसरी सहित धर्मराजा ने मार डाला ॥५९॥

ततः प्राप्तमहानन्दा धर्मभूपप्रसादतः ।
यथा कृतार्था जायन्ते साधवो व्यवहारिणः ॥६०॥

भावार्थ : उसके बाद धर्मराजा की कृपा से साधुरूप व्यवहारी अत्यन्त आनन्दित हुए और व्यवहारियों की तरह कृतार्थ होकर अपना व्यवहार करने लगे ॥६०॥

विचिन्तयेत्तथा सर्वं धर्मध्याननिविष्टधीः ।
ईदृगन्यदपि न्यस्तमर्थजातं यदागमे ॥६१॥

भावार्थ : धर्मध्यान में जिसकी बुद्धि तल्लीन है, उस मुनि को पूर्वोक्त प्रकार से समस्त चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए और इसी तरह के और भी पदार्थसमूह पर, जिसका आगम में वर्णन हो, उसका भी ध्यान करना चाहिए ॥६१॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो निर्विकारधीः ।
धर्मध्यानस्य स ध्याता, शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः ॥६२॥

भावार्थ : जो योगी मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से निर्विकार बुद्धिवाला हो गया हो, उसी शान्त और दान्त मुनि को धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है ॥६२॥

परैरपि यदिष्टं च स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ।
घटते ह्यत्र तत्सर्वं, तथा चेदं व्यवस्थितम् ॥६३॥

भावार्थ : दूसरे दार्शनिकों को स्थितप्रज्ञ का जो लक्षण अभीष्ट है, वह सब यहाँ घटित होता है, उसी प्रकार इसकी भी व्यवस्था है ॥६३॥

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥६४॥

भावार्थ : हे अर्जुन ! जब मन में रहे हुए सभी कामों (मनोरथों) को साधक छोड़ देता है और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥६४॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्चते ॥६५॥

भावार्थ : जिसका मन दुःखों के प्रसंगों में उद्विग्न नहीं होता और जो सुख के अवसरों पर स्पृहा से रहित है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥६५॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६६॥

भावार्थ : जो सर्वत्र आसक्ति से रहित है तथा उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु या स्थिति प्राप्त होने पर न तो आनन्दित होता है और न ही द्वेष (घृणा) करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है ॥६६॥

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६७॥

भावार्थ : जैसे कछुआ अपने सभी अंगों को सर्वथा सिकोड़ लेता है, वैसे ही योगी जब इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को समेट लेता है, वापस खींच लेता है, तब उस मुनि की बुद्धि स्थिर है, यह समझ लो ॥६७॥

शान्तो दान्तो भवेदीदृगात्मारामतया स्थितः ।
सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधकयोग्यता ॥६८॥

भावार्थ : इस प्रकार आत्मा में रमणतापूर्वक स्थित योगी शान्त और दान्त हो जाता है, क्योंकि सिद्ध योगी का जो स्वभाव है, वही साधक की योग्यता है ॥६८॥

ध्याताऽयमेव शुक्लस्याऽप्रमत्तः पादयोः द्वयोः ।
पूर्वविद् योग्ययोगी च केवली परयोस्तयोः ॥६९॥

भावार्थ : यही अप्रमत्त साधक शुक्लध्यान के दोनों पादों का ध्याता होता है, बशर्ते कि वह पूर्वधारी हो, तथा दूसरे दो पाद के ध्याता क्रमशः सयोगी केवली और अयोगी केवली है ॥६९॥

अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा ध्यानस्योपरमेऽपि हि ।
भावयेन्नित्यमभ्रान्तः प्राणा ध्यानस्य ताः खलु ॥७०॥

भावार्थ : भ्रान्तिरहित मुनि को ध्यान के उपरम (विरामकाल) में सदा अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षा (भावना) का

ध्यान करना चाहिए। क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ ही वास्तव में ध्यान की प्राणरूप है ॥७०॥

तीव्रादिभेदभाजः स्युर्लेश्यास्तितिस्त्रः इहोत्तराः ।
लिंगान्यत्रागमश्रद्धा विनयः सद्‌गुणस्तुतिः ॥७१॥

भावार्थ : यहाँ तीव्र आदि भेद वाली अन्तिम तीन लेश्याएँ होती हैं, उनके चिह्न हैं—आगमों के प्रति श्रद्धा, विनय और सद्गुणस्तुति ॥७१॥

शीलसंयमयुक्तस्य ध्यायतो धर्म्यमुत्तमम् ।
स्वर्गप्राप्तिं फलं प्राहुः प्रौढ़पुण्यानुबन्धिनीम् ॥७२॥

भावार्थ : शील और संयम से युक्त उत्तम धर्मध्यान का आचरण करने वाले योगी के लिए प्रौढ़ पुण्य के अनुबन्ध वाले स्वर्ग की प्राप्तिरूप फल कहा गया है ॥७२॥

ध्यायेच्छुक्लमथ क्षान्तिमृदुत्वार्जवमुक्तिभिः ।
छद्मस्थोऽणौ मनो धृत्वा व्यपनीय मनो जिनः ॥७३॥

भावार्थ : उसके पश्चात् क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति (निःस्पृहता) से युक्त छद्मस्थमुनि को परमाणु में मन को लगाकर शुक्लध्यान करना चाहिए, किन्तु वीतराग केवली को मन का निरोध करके शुक्लध्यान करना चाहिए ॥७३॥

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं तदादिमम् ।
नानानयाश्रितं तत्र वितर्कः पूर्वगं श्रुतम् ॥७४॥

भावार्थ : वितर्कसहित, विचारसहित, पृथक्त्वसहित, यों शुक्लध्यान का प्रथम पाद तीन प्रकार से युक्त होता है। इन तीनों में से वितर्क वह है, जो विविध नयों का आश्रय लेकर रहा हो, तथा जिसमें पूर्वगतश्रुत (पूर्वश्रुत का बोध) है ॥७४॥

अर्थ-व्यञ्जन-योगानां विचारोऽन्योऽन्यसंक्रमः ।
पृथक्त्वं द्रव्य-पर्याय-गुणान्तरगतिः पुनः ॥७५॥

भावार्थ : अर्थ, व्यञ्जन और योगों का परस्पर एक दूसरे में संक्रमण विचार कहलाता है। द्रव्य, पर्याय और गुण का एक दूसरे में गमन (संक्रमण) पृथक्त्व कहलाता है ॥७५॥

त्रियोगयोगिनः साधोर्वितर्काद्यन्वितं ह्यदः ।
ईषच्चलतरंगाब्धेः क्षोभाभावदशानिभम् ॥७६॥

भावार्थ : तीनों योगों से योगी साधु के लिए वितर्कादि से युक्त यह प्रथम शुक्लध्यान कुछ चपल तरंगों वाले समुद्र की क्षोभरहित दशा के समान होता है ॥७६॥

एकत्वेन वितर्केण विचारेण च संयुतम् ।
निर्वातस्थप्रदीपाभं द्वितीयं त्वेकपर्ययम् ॥७७॥

भावार्थ : एकत्व से, वितर्क से और विचार से युक्त एक पर्याय वाला दूसरा शुक्लध्यान वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान निश्चल होता है ॥७७॥

सूक्ष्मक्रियानिवृत्याख्यं तृतीयं तु जिनस्य तत् ।
अर्धरुद्धांगयोगस्य रुद्धयोगद्वयस्य च ।।७८।।

भावार्थ : सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरा शुक्लध्यान जिन (केवलज्ञानी) को होता है, इसमें दो योगों का निरोध हो जाता है और एक योग का अर्द्धनिरोध होता है ।।७८।।

तुरीयं तु समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति तत् ।
शैलवन्निष्प्रकम्पस्य शैलेश्यां विश्ववेदिनः ।।७९।।

भावार्थ : सर्वथा उच्छिन्न व्यापार वाला; फिर कभी गिरे नहीं, इस प्रकार का (अप्रतिपाती) और शैलेशी अवस्था में उत्पन्न होने वाला चौथा शुक्लध्यान समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का है। यह ध्यान पर्वत की तरह अचल, निष्कम्प सर्वज्ञ को होता है ।।७९।।

एतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानमत्र द्वयोः फलम् ।
आद्ययोः सुरलोकाप्तिरन्त्ययोस्तु महोदयः ।।८०।।

भावार्थ : उपर कहे अनुसार शुक्लध्यान चार प्रकार का है । उनमें से प्रथम के दो शुक्लध्यानों का फल स्वर्ग (देवलोक) की प्राप्ति है तथा अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल महोदय=मोक्ष है ।।८०।।

आश्रवापायसंसारानुभावभवसन्ततीः ।
अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे ।।८१।।

भावार्थ : शुक्लध्यान के विराम में आश्रव से प्राप्त होने वाले दुःख को, संसार के स्वभाव को, जन्म-मरण की परम्परा को तथा पदार्थ में होने वाले परिणाम को बाद में देखता रहे, यानी उसी का अनुध्यान करता रहे ॥८१॥

द्वयोः शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता ।
चतुर्थशुक्लभेदस्तु लेश्यातीतः प्रकीर्तितः ॥८२॥

भावार्थ : प्रथम दो ध्यानों में शुक्ललेश्या होती है, तीसरे सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक ध्यान में परम (उज्ज्वल) शुक्ललेश्या मानी गई है; और शुक्लध्यान के चौथे भेद को जिनेश्वर भगवन्तों ने लेश्यारहित कहा है ॥८२॥

लिंगं निर्मलयोगस्य शुक्लध्यानवतोऽवधः ।
असम्मोहो विवेकश्च व्युत्सर्गश्चाभिधीयते ॥८३॥

भावार्थ : निर्मल योग वाले शुक्लध्यानी के चार लिंग कहे हैं-अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ॥८३॥

अवधादुपसर्गेभ्यः कम्पते, न बिभेति च ।
असम्मोहान्न सूक्ष्मार्थे मायास्वपि च मुह्यति ॥८४॥

विवेकात्सर्वसंयोगाद् भिन्नमात्मानमीक्षते ।
देहोपकरणासंगो व्युत्सर्गाज्जायते मुनिः ॥८५॥

भावार्थ : मुनि अवध होने से उपसर्गों से कम्पित नहीं होता और न डरता है, असम्मोह होने से सुक्ष्म अर्थ में तथा

देवमाया वगैरह में मोहमूढ नहीं होता। शुक्लध्यानी मुनि का तृतीय लिंग विवेक होने से वह अपनी आत्मा को सर्वसंयोगों से पृथक् देखता है। तथा व्युत्सर्गरूप लिंग होने से वह शरीर और उपकरण (सामग्री) के प्रति निःसंग (अनासक्त=निःस्पृह) होते हैं ॥८४-८५॥

एवं ध्यानक्रमं शुद्धं मत्वा भगवदाज्ञया ।
यः कुर्यादेतदभ्यासं सम्पूर्णाध्यात्मविद् भवेत् ॥८६॥

भावार्थ : इस प्रकार जो भगवान् की आज्ञा के अनुसार शुद्ध ध्यान के क्रम को जानकर उस ध्यान का अभ्यास करता है, वह सम्पूर्ण अध्यात्म का जानकार हो जाता है ॥८६॥

॥ इति ध्यानाधिकारः ॥

• • •

अधिकार सतरहवाँ

[ध्यान-स्तुति]

यत्र गच्छति परं परिपाकं, पाकशासनपदं तृणकल्पम् ।
स्वप्रकाशसुखबोधमयं तत्, ध्यानमेव भवनाशि भजध्वम् ॥१॥

भावार्थ : जब साधक ध्यानयोग में उत्कृष्ट परिपक्वदशा प्राप्त करता है तब इन्द्र का पद भी उसे तिनके के समान लगता है । अतः आत्मप्रकाशकारी, सुखबोधमय एवं भवभ्रमण-विनाशकर्ता उस ध्यान का सेवन करो ॥१॥

आतुरैरपि जड़ैरपि साक्षात् सुत्यजा हि विषया न तु रागः ।
ध्यानवांस्तु परमद्युतिदर्शी तृप्तिमाप्य न तमृच्छति भूयः ॥२॥

भावार्थ : आतुर तथा जड़पुरुषों के द्वारा विषय तो प्रत्यक्षरूप में आसानी से त्यागे जा सकते हैं, किन्तु उन विषयों का राग (रस) त्यागा नहीं जा सकता । लेकिन ध्यानयोगी तो परमात्मा के प्रकाश का दर्शन करने के बाद तृप्त हो जाते हैं, फिर वे उस राग का स्वीकार ही नहीं करते ॥२॥

या निशा सकलभूतगणानां ध्यानिनो दिनमहोत्सव एषः ।
यत्र जाग्रति च तेऽभिनिविष्टा ध्यानिनो भवति तत्र सुषुप्तिः ॥३॥

भावार्थ : समस्त प्राणिगण के लिए जो रात्रि है, वह ध्यानी के लिए दिवस-सम्बन्धी महोत्सव होता है । और जिसमें वे (प्राणिगण) अभिनिवेश (आग्रह) पूर्वक जागृत रहते हैं, उसमें ध्यानी पुरुष सोये रहते हैं ॥३॥

संप्लुतोदक इवान्धुजलानां सर्वः सकलकर्मफलानाम् ।
सिद्धिरस्ति खलु यत्र तदुच्चैः ध्यानमेव परमार्थनिदानम् ॥४॥

भावार्थ : जैसे कुएँ के जल की सिद्धि (प्राप्ति) जल के स्रोत (झरने) से होती है, वैसे ही समस्त क्रियाओं के फल की सिद्धि ध्यान-प्रवाह (उच्च व सतत् ध्यान) से होती है । इसलिए ध्यान ही परमार्थ का (निदान) मूल कारण है ॥४॥

बाध्यते नहि कषायसमुत्थैः मानसैर्न ततभूपनमद्भिः ।
अत्यनिष्टविषयैरपि दुःखैर्ध्यानवान्निभृतमात्मनि लीनः ॥५॥

भावार्थ : आत्मा में अत्यन्त लीन (मग्न) ध्यानी कषायजनित मानसिक विकारों से, नमन करते हुए राजा, इन्द्र आदि के नमस्कार से समुत्पन्न मन के विकारों से एवं अत्यन्त अनिष्ट विषयों से तथा दुःखों से बाध्य (विवश) नहीं होता ॥५॥

स्पष्टदृष्टसुखसंभृतमिष्टं ध्यानमस्तु शिवशर्मगरिष्ठम् ।
नास्तिकस्तु निहतो यदि न स्यादेवमादिनयवाङ्मयदण्डात् ॥६॥

भावार्थ : स्पष्ट रूप से देखे हुए सुख से परिपूर्ण, एवं मोक्षसुख से गरिष्ठ ध्यान ही मेरे लिए इष्ट हो । यदि इस प्रकार

से नय के वाङ्मय (शास्त्र)रूपी दण्ड के प्रहार से नास्तिक का विघात नहीं हुआ तो उससे क्या हुआ ? ॥६॥

यत्र नार्कविधुतारकदीपज्योतिषां प्रसरतामवकाशः ।
ध्यान-भिन्नतमसामुदितात्मज्योतिषां तदपि भाति रहस्यम् ॥७॥

भावार्थ : जहाँ (जिस रहस्य को प्रगट करने के लिए) प्रकाश फैलाते हुए सूर्य, चन्द्रमा, तारे और दीपकों की ज्योतियों को बिल्कुल अवकाश नहीं है, यह गूढ़ रहस्य भी ध्यान से अज्ञानान्धकार का भेदन करके आत्मज्योति पाए हुए मुनियों को प्रतीत हो जाता है ॥७॥

योजयत्यमितकालवियुक्तां प्रेयसीं शमरतिं त्वरितं यत् ।
ध्यानमित्रमिदमेव मतं नः, किं परैर्जगति कृत्रिममित्रैः ॥८॥

भावार्थ : जो मित्र चिरकाल से वियोग पाई हुई शमरति नाम की प्रिया को तत्काल मिला देता है, उस ध्यानरूपी मित्र को ही हमने मित्र माना है । अतः अब हमें जगत् में नकली मित्रों से क्या मतलब है? ॥८॥

वारितस्मरबलातपचारे शीलशीतलसुगन्धिनिवेशे ।
उच्छ्रिते प्रशमतल्पनिविष्टो ध्यानधाम्नि लभते सुखमात्मा ॥९॥

भावार्थ : अत्यन्त ऊँचे ध्यानरूपी रंगमहल में प्रशमरूपी पलंग पर बैठा हुआ महात्मा सुख पाता है । जिस प्रासाद में कामदेव के बलरूपी धूप का संचार रोक दिया गया है, और जहाँ शीलरूपी शीतल सुगन्ध फैल रही है ॥९॥

शीलविष्टरदमोदकपाद्यप्रातिभार्घ्यसमता-मधुपर्कैः ।
ध्यानधाम्नि भवति स्फुटमात्माहूतपूतपरमातिथिपूजा ॥१०॥

भावार्थ : यहाँ ध्यानरूपी प्रासाद में प्रकटरूप में स्वतः बुलाए हुए पवित्र और उत्तम अतिथिरूप आत्मा की पूजा शीलरूपी आसन से, दमरूपी पादोदक (पैर धोने के जल) से, प्रातिभरूपी अर्घ्य से और समतारूपी मधुपर्क से होती है ॥१०॥

आत्मनो हि परमात्मनि योऽभूद् भेदबुद्धिकृत एव विवादः ।
ध्यानसन्धिकृदमुं व्यपनीय द्रागभेदमनयोर्वितनोति ॥११॥

भावार्थ : आत्मा और परमात्मा में जो भेदबुद्धि का विवाद था उसे ध्यानरूपी सन्धिकर्ता ने झटपट मिटाकर दोनों में अभेदभाव (एकत्व) फैला दिया ॥११॥

क्वाऽमृतं विषभृते फणिलोके क्व क्षयिण्यपि विधौ त्रिदिवे वा ।
क्वाप्सरोरतिमतां त्रिदशानां ध्यान एव तदिदं बुधपेयम् ॥१२॥

भावार्थ : विष से भरे हुए नागलोक में अमृत कहाँ से हो? प्रतिदिन क्षीण होने वाले चन्द्रमा में भी अमृत कहाँ है और (नाशवान) स्वर्ग में भी अप्सराओं के साथ प्रेम में डूबे हुए देवों के पास भी अमृत कहाँ सम्भव है? परन्तु पण्डितजनों द्वारा पीने योग्य वह अमृत तो ध्यान (ध्यान योग) में ही है ॥१२॥

गोस्तनीषु न सिताषु सुधायां नाऽपि, नाऽपि वनिताधरबिम्बे ।
तं रसं कमपि वेत्ति मनस्वी, ध्यानसम्भवधृतौ प्रथते यः ॥१३॥

भावार्थ : न द्राक्षा में वह रस है, न शक्कर में है, न अमृत में है अथवा न कामिनी के अधरबिम्ब में वह रस है, जिस अलौकिक रस को कोई मनस्वी पुरुष ही जानता है, क्योंकि वह रस ध्यान से उत्पन्न हुए धैर्य (संतोष) में प्रसिद्ध है अथवा प्रगट होता है ॥१३॥

इत्यवेत्य मनसा परिपक्वध्यानसम्भवफले गरिमाणम् ।
तत्र यस्य रतिरेनमुपैति प्रौढ़धामभृतमाशु यशःश्रीः ॥१४॥

भावार्थ : इस प्रकार परिपक्वध्यान से उत्पन्न फल की गरिमा (महत्ता) को मन से जानकर जो इसमें प्रीति करता है, उस प्रौढ़ तेज से परिपूर्ण मुनि को शीघ्र ही यशोलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१४॥

॥ इति ध्यानस्तुति-अधिकारः ॥

• • •

अधिकार अठारहवां

[आत्मविनिश्चय]

आत्मज्ञानफलं ध्यानमात्मज्ञानं च मुक्तिदम् ।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्नः कार्यो महात्मना ॥१॥

भावार्थ : ध्यान का फल आत्मज्ञान है और वह आत्मज्ञान मुक्ति का दाता है। इसलिए महान् आत्मा को सदा आत्मज्ञान में पुरुषार्थ करना चाहिए ॥१॥

ज्ञाते ह्यात्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम् ॥२॥

भावार्थ : जिसने आत्मा को जान लिया, उसे और कुछ जानने को अवशिष्ट नहीं रहता। और यदि आत्मा को नहीं जाना तो सब ज्ञान (जाना हुआ) निरर्थक है ॥२॥

नवानामपि तत्त्वानां ज्ञानमात्मप्रसिद्धये ।
येनाऽजीवादयो भावाः स्वभेदप्रतियोगिनः ॥३॥

भावार्थ : नौ तत्त्वों का ज्ञान भी आत्मा की सिद्धि के लिए ही है, क्योंकि अजीव आदि पदार्थ आत्मभेद के प्रतियोगी हैं ॥३॥

श्रुतो ह्यात्मपराभेदोऽनुभूतः संस्तुतोऽपि वा ।
निसर्गादुपदेशाद् वा वेत्ति भेदं तु कश्चन ॥४॥

भावार्थ : आत्मा एवं अनात्मा का अभेद सुना है, अनुभव किया है और परिचय में भी आया है, परन्तु कोई विरला व्यक्ति ही इसके भेद को निसर्ग से अथवा उपदेश से जानता है ॥४॥

तदेकत्व-पृथक्त्वाभ्यामात्मज्ञानं हितावहम् ।
वृथैवाभिनिविष्टानामन्यथा धीर्बिडम्बना ॥५॥

भावार्थ : इस कारण एकत्व और पृथकत्व को लेकर आत्मज्ञान हितकारक होता है। किन्तु कदाग्रहीपुरुषों की उल्टी बुद्धि मिथ्या, वृथा और विडम्बनारूप है ॥५॥

एक एव हि तत्रात्मा स्वभावे समवस्थितः ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणः प्रतिपादितः ॥६॥

भावार्थ : आत्मा एक ही है, वह स्वभाव में ही स्थिर रहता है, और उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लक्षण वाला कहा है ॥६॥

प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथारत्नान्न भिन्नता ।
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां तथात्मनः ॥७॥

भावार्थ : जैसे रत्न की कान्ति, निर्मलता और शक्ति रत्न से अलग नहीं हैं. वैसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप लक्षण आत्मा से भिन्न नहीं है ॥७॥

आत्मनो लक्षणानां च व्यवहारो हि भिन्नता ।
षष्ठ्यादिव्यपदेशेन मन्यते, न तु निश्चयः ॥८॥

भावार्थ : व्यवहारनय षष्ठी आदि विभक्ति से व्यपदेश से आत्मा को उसके पुर्वोक्त लक्षणों से भिन्न मानता है, परन्तु निश्चयनय इस तरह भिन्न नहीं मानता ॥८॥

घटस्य रूपमित्यत्र यथा भेदो विकल्पजः ।
आत्मनश्च गुणानां च तथा भेदो न तात्त्विकः ॥९॥

भावार्थ : जैसे घट और घट के रूप का भेद केवल विकल्प से उत्पन्न होता है; वैसे ही आत्मा और उसके गुण का भेद भी विकल्पज है, तात्त्विक नहीं है ॥९॥

शुद्धं यदात्मनो रूपं निश्चयेनाऽनुभूयते ।
व्यवहारो भिदा द्वाराऽनुभावयति तत्परम् ॥१०॥

भावार्थ : आत्मा के जिस शुद्ध स्वरूप का निश्चयनय द्वारा अनुभव किया जाता है; व्यवहारनय उस उत्कृष्ट स्वरूप के भेद का अनुभव कराता है ॥१०॥

वस्तुतस्तु गुणानां तद्रूपं न स्वात्मनः पृथक् ।
आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाद्यपि जडं भवेत् ॥११॥

भावार्थ : वास्तव में गुणों का वह स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है, अन्यथा आत्मा अनात्मारूप हो जाएगी और ज्ञान आदि भी जड़ हो जाएँगे ॥११॥

चैतन्यपरसामान्यात् सर्वेषामेकतात्मनाम् ।
निश्चिता कर्मजनितो भेदः पुनरूपप्लवः ॥१२॥

भावार्थ : निश्चयनय से समस्त आत्माओं की चैतन्यरूप महासामन्यत्व के कारण एकता है, परन्तु कर्मों को लेकर उत्पन्न हुआ भेद उपप्लवरूप है ॥१२॥

मन्यते व्यवहारस्तु भूतग्रामादिभेदतः ।
जन्मादेश्च व्यवस्थातो, मिथो नानात्वमात्मनाम् ॥१३॥

भावार्थ : व्यवहारनय प्राणिसमूह के भेद के कारण तथा जन्मादि की व्यवस्था के कारण आत्माओं की परस्पर विविधता मानता है ॥१३॥

न चैतन्निश्चये युक्तं भूतग्रामो यतोऽखिलः ।
नानाकर्मप्रकृतिजः स्वभावो नात्मनः पुनः ॥१४॥

भावार्थ : निश्चयनय की दृष्टि में जीवों की यह विविधता युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सारे ही प्राणिसमूह १४ प्रकार के जीवसमूह की भिन्नता नामकर्म की प्रकृतियों से जनित है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है ॥१४॥

जन्मादि कोऽपि नियतः परिणामो हि कर्मणाम् ।
न च कर्मकृतो भेदः स्यादात्मन्यविकारिणि ॥१५॥

भावार्थ : जन्म आदि भेद निश्चय ही कर्मों के परिणाम (फल) स्वरूप हैं। और वह कर्मकृत भेद अविकारी आत्मा से सम्बन्धित नहीं होता ॥१५॥

आरोप्य केवलं कर्मकृतां विकृतिमात्मनि ।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञाना भीमे संसारसागरे ॥१६॥

भावार्थ : केवल कर्मजनित विकार का आत्मा में आरोपण करने से ज्ञानभ्रष्ट हुए जीव संसारसागर में परिभ्रमण करते हैं ॥१६॥

उपाधिभेदजं भेदं वेत्त्यज्ञः स्फटिके यथा ।
तथा कर्मकृतं भेदमात्मन्येवाभिमन्यते ॥१७॥

भावार्थ : जैसे मूर्ख मनुष्य उपाधि के भेद से उत्पन्न हुए भेद को स्फटिक में भेदरूप जानता है, वैसे ही कर्मकृत भेद को वह आत्मा के विषय में मानता है ॥१७॥

उपाधिकर्मजो नास्ति व्यवहारस्त्वकर्मः ।
इत्यागमवचो लुप्तमात्मवैरूप्यवादिना ॥१८॥

भावार्थ : कर्मरहित जीव (आत्मा) के लिए उपाधिरूपकर्म से उत्पन्न हुआ व्यवहार नहीं होता । इसलिए आत्मा के विषय में विपरीत कथन करने वालों ने आगमवचन का लोप किया है ॥१८॥

एकक्षेत्रस्थितोऽप्येति नाऽऽत्मा कर्मगुणान्वयम् ।
तथाऽभव्यस्वभावत्वाच्छुद्धो धर्मास्तिकायवत् ॥१९॥

भावार्थ : धर्मास्तिकाय के समान आत्मा एक क्षेत्र में रहते हुए भी वह (शुद्ध आत्मा) कर्मगुणों से संयुक्त नहीं होती,

क्योंकि शुद्ध आत्मा का धर्मास्तिकाय की तरह होने का स्वभाव है ही नहीं ॥१९॥

यथा तैमिरिकश्चन्द्रमप्येकं मन्यते द्विधा ।
अनिश्चयकृतोन्मादस्तथाऽऽत्मानमनेकधा ॥२०॥

भावार्थ : जैसे रतौंधी (नेत्ररोग) वाला व्यक्ति एक चन्द्रमा को भी दो रूप में जानता–देखता है, वैसे ही निश्चय के अज्ञान के कारण उन्मत्त पुरुष एक आत्मा के अनेक प्रकार मानता है ॥२०॥

यथाऽनुभूयते ह्येकं स्वरूपास्तित्वमन्वयात् ।
सादृश्यास्तित्वमप्येकमविरुद्धं तथाऽऽत्मनः ॥२१॥

भावार्थ : जैसे अन्वय से आत्मा के स्वरूप का अस्तित्व एक ही अनुभूत (महसूस) होता है, वैसे ही आत्मा के सादृश्य का अस्तित्व भी एक ही है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥२१॥

सदसद्वादपिशुनात् संगोप्य व्यवहारतः ।
दर्शयत्येकतारत्नं सतां शुद्धनयः सुहृत् ॥२२॥

भावार्थ : शुद्धनयरूपी मित्र स्याद्वाद को बताने वाले व्यवहार में रक्षा करके सज्जनों को एकतारूपी रत्न दिखाता–बताता है ॥२२॥

नृनारकादिपर्यायैरप्युत्पन्नविनश्वरैः ।
भिन्नैर्जहाति नैकत्वमात्मद्रव्यं सदान्वयि ॥२३॥

भावार्थ : आत्मा का मनुष्य, नारक आदि भिन्न-भिन्न पर्यायों में उत्पन्न और विनाश होने पर भी निरन्तर अन्वयवाला आत्मद्रव्य एकत्व को नहीं छोड़ता ॥२३॥

यथैकं हेमकेयूरकुण्डलादिषु वर्तते ।
नृनारकादिभावेषु तथाऽऽत्मैको निरंजनः ॥२४॥

भावार्थ : जैसे एक ही सोना केयूर (बाजूबन्द) और कुण्डल वगैरह में मौजूद है; वैसे एक ही निरंजन आत्मा मनुष्य, नारक आदि भावों (पदार्थों) में विद्यमान रहता है ॥२४॥

कर्मणस्ते हि पर्याया नात्मनः शुद्धसाक्षिणः ।
कर्मक्रियास्वभावं यदात्ममा त्वजस्वभाववान् ॥२५॥

भावार्थ : वे नर-नारकादि पर्याय कर्म के (कर्मजनित) ही हैं, शुद्ध साक्षीरूप आत्मा के नहीं हैं । क्योंकि कर्म क्रियास्वभाव वाले हैं और आत्मा तो अज (जन्म न लेने वाले) स्वभाव वाला है ॥२५॥

नाणूनां कर्मणो वाऽसौ भवसर्गः स्वभावजः ।
एकैकविरहेऽभावान्न च तत्त्वान्तरं स्थितम् ॥२६॥

भावार्थ : इस संसार की रचना (उत्पत्ति=सर्जन) केवल कर्मपरमाणुओं के स्वभाव से नहीं होती, और न ही अकेले

जीव के स्वभाव से ही होती है, किन्तु दोनों के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई है, होती है; क्योंकि दोनों में से एक का वियोग (अभाव) हो तो संसार का ही अभाव हो जाता है । अन्य किसी भी तत्त्व से संसार की स्थिति नहीं होती ॥२६॥

श्वेतद्रव्यकृतं श्वैत्यं भित्तिभागे यथा द्वयोः ।
भात्यनन्तर्भवच्छून्यं प्रपञ्चोऽपि तथेक्ष्यताम् ॥२७॥

भावार्थ : जैसे दीवार पर सफेद द्रव्य से की हुई सफेदी (उज्ज्वलता) उन दोनों में अन्तर्भूत हुए बिना सुशोभित होती है, वैसे हो प्रपंच (संसार के विस्तार) को समझना चाहिए ॥२७॥

यथा स्वप्नावबुद्धोऽर्थो विबुद्धेन न दृश्यते ।
व्यवहारमतः सर्गो ज्ञानिना न तथेक्ष्यते ॥२८॥

भावार्थ : जैसे स्वप्न में देखा हुआ पदार्थ जागने के बाद नहीं दिखता, वैसे ही व्यवहार से माना हुआ सर्ग (संसार) ज्ञानी को नहीं दिखता ॥२८॥

मध्याह्ने मृगतृष्णायां पयःपूरो यथेक्ष्यते ।
तथा संयोगजः सर्गो विवेकाख्याति-विप्लवे ॥२९॥

भावार्थ : जैसे मध्याह्न समय में मृगमरीचिका में जल का प्रवाह उमड़ता दिखाई देता है, वैसे ही विवेक की यथार्थज्ञान वाली प्राप्ति के आवरण के कारण संयोग से उत्पन्न हुआ संसार दिखाई देता है ॥२९॥

गन्धर्वनगरादीनामम्बरे डम्बरो यथा ।
तथा संयोगजः सर्गो विलासो वितथाकृतिः ॥३०॥

भावार्थ : जैसे आकाश में गन्धर्वनगर आदि का आडम्बर दिखाई देता है, वह मिथ्या है, वैसे ही संयोग से होता है, पर वह सत्य नहीं है, इसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न सर्वविलास व्यर्थ है, मिथ्या है ॥३०॥

इति शुद्धनयात्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि ।
अंसादिकल्पनाऽप्यस्य नेष्टा यत्पूर्णवादिनः ॥३१॥

भावार्थ : इस तरह आत्मा में शुद्धनय के अधीन ऐसा एकत्व प्राप्त हुआ है, क्योंकि पूर्णवादी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय में अंशादि की कल्पना करना जरा भी अभीष्ट नहीं है ॥३१॥

एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाशयो मतः ।
प्रत्यग्ज्योतिषमात्मानमा नहुः शुद्धनयाः खलु ॥३२॥

भावार्थ : 'आत्मा एक ही है,' इस सूत्र का आशय भी ऊपर कहे अनुसार ही माना गया है, क्योंकि शुद्धनयों ने आत्मा को शुद्धज्योति वाला कहा है। समग्र असंख्य प्रदेशों को लेकर तथा ज्ञानादि को लेकर 'आत्मा एक ही', है, 'एगे आया' इस सूत्र पर भी इससे पूर्व कहा हुआ अभिप्राय माना है । यानी पूर्वाचार्यों ने इसी अभिप्राय को प्रमाणित किया है। कारण यह है कि शुद्ध नय (अर्थात् उत्पाद और व्यय का त्याग करके

पूर्ण=ध्रुव वस्तु को ग्रहण करने वाले संग्रहनय) का वाद= कथन आत्मा को प्रत्यक्ष=शुद्ध ज्योतिस्वरूप=बन्ध-मोक्ष की अपेक्षारहित शुद्ध ज्योतिर्मान बताता है ॥३२॥

प्रपञ्च-संचय-क्लिष्टान्मायारूपाद् बिभेमि ते ।
प्रसीद भगवन्नात्मन् ! शुद्धरूपं प्रकाशय ॥३३॥

भावार्थ : हे भगवन् आत्मन् ! प्रपञ्चों के दल से क्लिष्ट तेरे मायामय रूप से मैं डरता हूँ। अतः तू मुझ पर प्रसन्न हो और शुद्ध रूप को प्रकाशित कर ॥३३॥

देहेन सममेकत्वं मन्यते व्यवहारवित् ।
कथञ्चिन्मूर्ततापपत्तेर्वेदनादिसमुद्भवात् ॥३४॥

भावार्थ : व्यवहारवेत्ता मनुष्य देह के साथ आत्मा का एकत्व मानता है, क्योंकि आत्मा को कथंचित् मूर्तिमत्ता (रूपित्व) की प्राप्ति होने से वेदना आदि की उत्पत्ति होती है। व्यवहारवेत्ता अर्थात् विशेष को ग्रहण करने वाला व्यवहारनयवादी कहता है – '**आत्मा शरीर से अभिन्न है,**' जबकि निश्चयनयवादी इस बात का खण्डन करते हुए कहता है–''**आत्मा शरीर से भिन्न है**''; परन्तु इस कथन से पूर्व व्यवहारनय अपनी उक्त बात का समर्थन करते हुए युक्ति प्रतिपादन करता है–'**आत्मा शरीर से (कथंचित्) अभिन्न है,** क्योंकि जब शरीर पर कोई डंडे आदि से प्रहार करता है, तब उसकी वेदना (दुःख की अनुभूति) आत्मा में पैदा होती है,

इससे आत्मा की कथञ्चित् मूर्तिमत्ता (रूपित्व) सिद्ध होती है। अतः मूर्तिमत्ता के कारण आत्मा को देह के साथ अभिन्न माना जाता है।'' ॥३४॥

तन्निश्चयो न सहते यदमूर्तो न मूर्तताम् ।
अंशेनाऽप्यवगाहेत पावकः शीततामिव ॥३५॥

भावार्थ : इस बात को निश्चयनय सहन नहीं करता, वह कहता है—जैसे अग्नि ठंडी नहीं होती, वैसे ही अमूर्त्त आत्मा लेशमात्र भी मूर्तिमान नहीं होता ॥३५॥

उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रमः ।
तथा मूर्तांगसम्बन्धादात्मा मूर्त इति भ्रमः ॥३६॥

भावार्थ : जैसे गर्म अग्नि के संयोग से घी गर्म है, ऐसी भ्रान्ति होती है, वैसे ही मूर्तिमान् अंग के संयोग (सम्बन्ध) से 'आत्मा मूर्तिमान है।' ऐसी भ्रान्ति होती है ॥३६॥

न रूपं, न रसो गन्धो, न च स्पर्शो न चाकृतिः ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्त्तता ॥३७॥

भावार्थ : जिस आत्मा का धर्म–रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, आकृति नहीं, तथा शब्द भी नहीं, उस आत्मा की मूर्त्तता (रूपीपन) कैसे सिद्ध हो सकती है? ॥३७॥

दृशाऽदृश्यं हृदाऽग्राह्यं वाचामपि न गोचरः ।
स्वप्रकाशं हि यद्रूपं, तस्य का नाम मूर्तता ? ॥३८॥

भावार्थ : जिसका रूप दृष्टि से अग्राह्य (दिखाई देने लायक नहीं) है, हृदय (मन) से भी अगोचर है, वाणी से भी अगोचर है, परन्तु जो स्वयं प्रकाशरूप है, वह आत्मा मूर्त्तरूप कैसे हो सकता है? कदापि नहीं ॥३८॥

आत्मा सत्यचिदानन्दः सूक्ष्मात्सूक्ष्मः परात्परः ।
स्पृशत्यपि न मूर्त्तत्त्वं तथा चोक्तं परैरपि ॥३९॥

भावार्थ : आत्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है, वह सूक्ष्म है, पर से भी पर है, ऐसी आत्मा मूर्त्तत्त्व का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता है, इसी प्रकार की बात अन्य दार्शनिकों ने भी कही है ॥३९॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४०॥

भावार्थ : शरीर में इन्द्रियों को पर (श्रेष्ठ) कहा गया है, इन्द्रियों से पर मन को बताया गया है, मन से भी पर (श्रेष्ठ) बुद्धि है और जो बुद्धि से भी पर है, वह आत्मा है ॥४०॥

विकले हन्त ! लोकेऽस्मिन्नमूर्त्ते मूर्त्तताभ्रमात् ।
पश्यत्याश्चर्यवज्ज्ञानी वदत्याश्चर्यवद् वचः ॥४१॥

भावार्थ : अफसोस है कि अमूर्त्त के विषय में मूर्त्तता के भ्रम के कारण विवेकविकल इस लोक में ज्ञानी पुरुष आश्चर्य-चकित सा देखता है और आश्चर्यवत् वचन बोलता है ॥४१॥

वेदनाऽपि न मूर्तत्वनिमित्ता स्फुटमात्मनः ।
पुद्‌गलानां तदापत्तेः किन्त्वशुद्धस्वशक्तिजा ॥४२॥

भावार्थ : वेदना भी आत्मा के मूर्त्तत्व (को प्रगट करने) में स्पष्टतः निमित्त कारण नहीं है, क्योंकि अगर ऐसा माना जाएगा तो पुद्गलों को भी वेदना की प्राप्ति होने लगेगी। वस्तुतः वह वेदना तो अपनी (जीव की) अशुद्ध स्वशक्ति से ही उत्पन्न हुई है ॥४२॥

अक्षद्वारा यथा ज्ञानं स्वयं परिणमत्ययम् ।
तथेष्टानिष्टविषयस्पर्शद्वारेण वेदनाम् ॥४३॥

भावार्थ : जैसे यह आत्मा इन्द्रियों द्वारा स्वयं ही ज्ञानरूप में परिणमन करती है, (परिणत होती है), वैसे ही इष्ट और अनिष्ट विषय के स्पर्श द्वारा वेदनारूप में परिणत होती है, वेदना का अनुभव=वेदन करती है ॥४३॥

विपाककालं प्राप्याऽसौ वेदनापरिणामभाक् ।
मूर्त्तं निमित्तमात्रं नो घटे दण्डवदन्वयि ॥४४॥

भावार्थ : यह आत्मा विपाककाल को पाकर वेदना के परिणाम का भागी होता है। इसलिए मूर्त्तत्व (साकारता) ही उसका कोई कारण नहीं है। परन्तु वह घड़े के लिए डंडे की तरह सहचारी अन्वयी है ॥४४॥

ज्ञानाख्या चेतना बोधः कर्माख्या द्विष्टरक्तता ।
जन्तोः कर्मफलाख्या सा, वेदना व्यपदिश्यते ॥४५॥

भावार्थ : आत्मा का बोध ज्ञान नाम की चेतना कहलाती है, और उसका द्वेषत्व और रागित्व कर्म नाम की चेतना कहलाती है और उसी के कर्मफल को कर्मफल नाम की चेतना कहते हैं, वही वेदना के नाम से पुकारी जाती है ॥४५॥

नात्मा तस्मादमूर्त्तत्वं चैतन्यं नातिवर्तते ।
अतो देहेन नैकत्वं तस्य मूर्त्तेन कर्हिचित् ॥४६॥

भावार्थ : इस कारण आत्मा अमूर्त्तत्व और चेतनत्त्व का उल्लंघन नहीं करता । यही कारण है कि मूर्त्त शरीर के साथ आत्मा का एकत्व कभी नहीं होता ॥४६॥

सन्निकृष्टान्मनो-वाणी-कर्मादेरपि पुद्‌गलात् ।
विप्रकृष्टाद्धनादेश्च भाव्यैवं भिन्नताऽऽत्मनः ॥४७॥

भावार्थ : इस प्रकार मन, वाणी, कर्म आदि समीपवर्ती पुद्गलों से तथा धन आदि दूरवर्ती पुद्गलों से भी आत्मा की भिन्नता समझनी चाहिए ॥४७॥

पुद्‌गलानां गुणो मूर्तिरात्मा ज्ञानगुणः पुनः ।
पुद्‌गलेभ्यस्ततो भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥४८॥

भावार्थ : पुद्गलों का गुण मुर्त्तिमत्त्व है, और आत्मा का गुण ज्ञान है; इसलिए जिनेन्द्रों ने आत्मद्रव्य को पुद्गलों से भिन्न कहा है ॥४८॥

धर्मस्य गतिहेतुत्वं गुणो ज्ञानं तथाऽऽत्मनः ।
धर्मास्तिकायतद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥४९॥

भावार्थ : धर्मास्तिकाय का गुण गति में कारण (हेतुत्व) बनता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। इसी कारण जिनेश्वरों ने जीवद्रव्य को धर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है ॥४९॥

अधर्मे स्थितिहेतुत्वं गुणो ज्ञानगुणोऽसुमान् ।
ततोऽधर्मास्तिकायान्यमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥५०॥

भावार्थ : अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिति में कारणरूप है; जबकि जीवद्रव्य का गुण ज्ञान है । इसलिए तीर्थंकरों ने जीवद्रव्य को अधर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है ॥५०॥

अवगाहो गुणो व्योम्नो, ज्ञानं खल्वात्मनो गुणः ।
व्योमास्तिकायात्तद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥५१॥

भावार्थ : आकाश का गुण अवकाश देना है; जबकि आत्मा का गुण ज्ञान है । इसलिए तीर्थंकरों ने आत्मद्रव्य को आकाशास्तिकाय से भिन्न कहा है ॥५१॥

आत्मा ज्ञानगुणः सिद्धः, समयो वर्तनागुणः ।
तद्भिन्नं समयद्रव्यादात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥५२॥

भावार्थ : आत्मा ज्ञानरूप गुणवाला है, यह निर्विवाद सिद्ध है, जब कि समय (काल) वर्त्तनागुण वाला है । इसलिए सर्वज्ञों ने आत्मद्रव्य को कालद्रव्य से भिन्न कहा है ॥५२॥

आत्मनस्तदजीवेभ्यो विभिन्नत्त्वं व्यवस्थितम् ।
व्यक्तिभेदनयादेशादजीवत्त्वमपीष्यते ।।५३।।

भावार्थ : इस कारण आत्मद्रव्य की अजीवद्रव्यों से भिन्नता सिद्ध हो जाती है तथा व्यक्तिभेद करने वाले नय के आदेश से आत्मा का अजीवत्त्व भी इष्ट हो, ऐसा ही चाहते हैं ।।५३।।

अजीवा जन्मिनः शुद्धभावप्राणव्यपेक्षया ।
सिद्धाश्च निर्मलज्ञाना द्रव्यप्राणव्यपेक्षया ।।५४।।

भावार्थ : शुद्ध भावप्राण की अपेक्षा से संसारी जीव अजीव हैं और निर्मल ज्ञानवान् सिद्धजीव द्रव्यप्राण की अपेक्षा से अजीवरूप हैं ।।५४।।

इन्द्रियाणि बलं श्वासोच्छ्वासो ह्यायुस्तथाऽपरम् ।
द्रव्यप्राणाश्चतुर्भेदाः पर्यायाः पुद्गलाश्रिताः ।।५५।।

भावार्थ : इन्द्रियाँ, बल, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य ये चार प्रकार के द्रव्यप्राण हैं, जिनके पर्याय पुद्गलाश्रित हैं ।।५५।।

भिन्नास्ते ह्यात्मनोऽत्यन्तं तदेतैर्नास्ति जीवनम् ।
ज्ञान-वीर्य-सदाश्वास-नित्यस्थितिविकारिभिः ।।५६।।

भावार्थ : आत्मा से ये द्रव्यप्राण सर्वथा भिन्न हैं । इस कारण ज्ञान, वीर्य, सदा श्वास और नित्य स्थिति से विकृत रूप वाले उन द्रव्यप्राणों (के आधार) से आत्मा का जीवन (जीना) नहीं होता ।।५६।।

एतत्प्रकृतिभूताभिः शाश्वतीभिस्तु शक्तिभिः ।
जीवत्यात्मा सदेत्येषा शुद्धद्रव्यनयस्थितिः ॥५७॥

भावार्थ : इन पूर्वोक्त ज्ञान-वीर्य आदि प्रकृतिरूप शाश्वत् शक्तियों के बल पर आत्मा निरन्तर जीता है, यह शुद्ध द्रव्य (द्रव्यार्थिक) नय की स्थिति (व्यवस्था) है ॥५७॥

जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति ।
इदं चित्रं चरित्रं के हन्त पर्यनुयुञ्जताम् ॥५८॥

भावार्थ : जिन प्राणों के बिना जीव जीता नहीं है, उन्हीं प्राणों के बिना जीव जीता है, इस आश्चर्यजनक चरित्र को कौन जान सकते हैं? ॥५८॥

नाऽऽत्मा पुण्यं, न वा पापमेते यत्पुद्गलात्मके ।
आद्यबालशरीरस्योपादानत्त्वेन कल्पिते ॥५९॥

भावार्थ : आत्मा पुण्य नहीं है या पाप भी नहीं है, क्योंकि (ये) पाप-पुण्य पुद्गलात्मक हैं-पुद्गलरूप हैं और प्रथम बालशरीर के उपादानकारण के रूप में कल्पित हैं ॥५९॥

पुण्यं कर्म शुभं प्रोक्तमशुभं पापमुच्यते ।
तत्कथं तु शुभं जन्तून् यत्पातयति जन्मनि ? ॥६०॥

भावार्थ : शुभकर्म को पुण्य कहा जाता है और अशुभकर्म को पाप कहा जाता है। इन दोनों में पुण्य को शुभ क्यों कहा जाता है?, क्योंकि वह तो प्राणियों को जन्म के गर्त्त में डालता है, अनेक जन्म कराता है ॥६०॥

न ह्यासयस्य बन्धस्य तपनीयमयस्य च ।
पारतन्त्र्याविशेषेण फलभेदोऽस्ति कश्चन ॥६१॥

भावार्थ : बेड़ी लोहे की हो या सोने की परतन्त्रता दोनों में एक सरीखी होती है; इस कारण उनमें किसी प्रकार का फलभेद नहीं होता ॥६१॥

फलाभ्यां सुखदुःखाभ्यां न भेदः पुण्यपापयोः ।
दुःखान्न भिद्यते हन्त ! यतः पुण्यफलं सुखम् ॥६२॥

भावार्थ : सुख और दुःखरूप फल को लेकर पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, क्योंकि पुण्य का फल, जो सुख है, वह दुःख से खास भिन्न नहीं है ॥६२॥

सर्वपुण्यफलं दुःखं कर्मोदयकृतत्वतः ।
तत्र दुःखप्रतीकारे विमूढानां सुखत्वधीः ॥६३॥

भावार्थ : समस्त पुण्यों का फल दुःखरूप है, क्योंकि यह सब कर्मों के उदय से होता है । मूढ़ लोगों को दुःख के प्रतीकार में सुख होने की बुद्धि होती है ॥६३॥

परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च बुधैर्मतम् ।
गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखं पुण्यभवं सुखम् ॥६४॥

भावार्थ : पुण्य से उत्पन्न हुए सुख को पण्डितों परिणाम की दृष्टि से, ताप की दृष्टि से, संस्कार की दृष्टि से तथा गुणवृत्ति का विरोध होने के कारण दुःखरूप माना है ॥६४॥

देहपुष्टेर्नरामर्त्यनायकानामपि स्फुटम् ।
महाजपोषणस्येव परिणामोऽतिदारुणः ॥६५॥

भावार्थ : मनुष्यों और देवों के तथा नेताओं के भी शरीर के पुष्ट (हट्टेकट्टे) होने का परिणाम भी बड़े बकरे को पोषण करके मोटा ताजा बनाने के समान अत्यन्त भयंकर आता है ॥६५॥

जलूकाः सुखमानिन्यः पिबन्त्यो रुधिरं यथा।
भुञ्जाना विषयचान् यान्ति दशामन्तेऽतिदारुणाम् ॥६६॥

भावार्थ : जैसे जोंक खून चूस कर अत्यन्त सुख मानता है, वैसे हो विषयभोगों को भोगने वाले उनमें सुख मानते हैं, लेकिन दोनों अंत में अत्यन्त भयंकर दशा को प्राप्त करते हैं ॥६६॥

तीव्राग्निसंगसंशुष्यत् पयसामयसामिव ।
यत्रौत्सुक्यात् सदाक्षाणां तप्तता तत्र किं सुखम् ? ॥६७॥

भावार्थ : तीव्र अग्नि के संग से लोहे का पानी सूख जाता है, और वह संतप्त हो जाता है, वैसे ही विषयसुखों में सदा उत्सुक होने के कारण इन्द्रियाँ भी संतप्त रहती हैं । जहाँ ताप है, वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है?

प्राक्पश्चाच्चारतिस्पर्शात् पुटपाकमुपेयुषि ।
इन्द्रियाणां गणे तापव्याप एव न निर्वृतिः ॥६८॥

भावार्थ : पहले और बाद में भी संताप (अरति) के स्पर्श होने से पुट-पाक को प्राप्त इन्द्रियों के गण में संताप ही फैलता है, सुख नहीं होता ॥६८॥

सदा यत्र स्थितो द्वेषोल्लेखः स्वप्रतिपन्थिषु ।
सुखानुभवकालेऽपि तत्र तापहतं मनः ।।६९।।

भावार्थ : जहाँ सुख का अनुभव करने के समय भी निरन्तर अपने शत्रुओं के प्रति द्वेष का चिन्तन (उल्लेख) रहता है, वहाँ उसका मन घर में शान्त बैठा रहने पर भी ताप से आहत (व्यथित) रहता है ।।६९।।

स्कन्धात्स्कन्धान्तरारोपे भारस्येव न तत्त्वतः ।
अक्षाह्लादेऽपि दुःखस्य संस्कारो विनिवर्तते ।।७०।।

भावार्थ : एक स्कन्ध से दूसरे स्कन्ध पर भार रख देने से जैसे भार कम नहीं होता, वैसे ही इन्द्रियों के आनन्द से भी वस्तुतः दुःख के संस्कार नष्ट (निवृत्त) नहीं होते ।।७०।।

सुखं दुःखं च मोहश्च तिस्रोऽपि गुणवृत्तयः ।
विरुद्धा अपि वर्तन्ते दुःखजात्यनतिक्रमात् ।।७१।।

भावार्थ : सुख, दुःख और मोह इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ विरुद्ध हैं, तो भी ये तीनों दुःख की जाति का अतिक्रमण (उल्लंघन) नहीं करतीं, इसलिए दुःखरूप ही हैं ।।७१।।

क्रुद्धनागफणाभोगोपमो भोगोद्भवोऽखिलः ।
विलासश्चित्ररूपोऽपि भयहेतुर्विवेकिनाम् ।।७२।।

भावार्थ : सारे भोगों से उत्पन्न हुआ सुख का अनुभव क्रोध में उफनते हुए सर्प के फन के फैलाव सरीखा है ऐसा

विचित्र प्रकार का विलास भी विवेकीजनों के लिए भय का कारण है ॥७२॥

इत्थमेकत्वमापन्नं फलतः पुण्यपापयोः ।
मन्यते यो न मूढ़ात्मा नान्तस्तस्य भवोदधेः ॥७३॥

भावार्थ : इस प्रकार पुण्य-पाप के फल की दृष्टि से एकत्व प्राप्त (सिद्ध) हुआ। मगर जो मूढ़ात्मा इस बात को नहीं मानता, उसके भवसागर का अन्त नहीं आता ॥७३॥

दुःखैकरूपयोर्भिन्नस्तेनात्मा पुण्यपापयोः ।
शुद्धनिश्चयतः सत्यचिदानन्दमयः सदा ॥७४॥

भावार्थ : इस पूर्वोक्त कारणों से दुःख के ही एक स्वरूप वाले पुण्य और पाप दोनों से आत्मा पृथक् है। क्योंकि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा सदा सत्-चित्-आनन्दमय है ॥७४॥

तत्तुरीयदशाव्यंग्यरूपमावरणक्षयात् ।
भात्युष्णोद्योतशीलस्य घननाशाद् रवेरिव ॥७५॥

भावार्थ : जैसे बादलों के मिट (फट) जाने से उष्णप्रकाश के स्वभाववाले सूर्य का रूप दिखाई देने लगता है; वैसे ही आवरण का क्षय होने से तुर्यदशा में जाना जा सके ऐसा आत्मा का रूप दिखाई देता है ॥७५॥

जायन्ते जाग्रतोऽक्षेभ्यश्चित्रा धीसुखवृत्तयः ।
सामान्यं तु चिदानन्दरूपं सर्वदशान्वयि ॥७६॥

भावार्थ : जागृत आत्मा को इन्द्रियों से अनेक प्रकार की आधि (मानसिक व्यथा) वाली सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जबकि सामान्यतया तो सर्वदशा में सम्बन्ध वाला चिदानन्दरूप प्रतिभासित होता है ॥७६॥

स्फुलिंगैर्न यथा वह्निर्दीप्यते ताप्यतेऽथवा ।
नानुभूतिपराभूती, तथैताभिः किलात्मनः ॥७७॥

भावार्थ : जैसे अग्नि तिनके से नहीं जलती, अथवा उस हालत में वह गर्मी भी नहीं देती, वैसे ही इन सुख की वृत्तियों से आत्मा का अनुभव अथवा पराभव नहीं होता ॥७७॥

साक्षिणः सुखरूपस्य सुषुप्तौ निरहंकृतम् ।
यथा भानं तथा शुद्धविवेके तदतिस्फुटम् ॥७८॥

भावार्थ : सुषुप्ति-अवस्था में सुखरूप, और साक्षीभूत आत्मा का जैसे अहंकार रहित भान होता है, वैसे ही शुद्ध विवेक में वह भान अत्यन्त स्पष्ट होता है ॥७८॥

तच्चिदानन्दभावस्य भोक्तात्मा शुद्धनिश्चयात् ।
अशुद्धनिश्चयात्कर्मकृतयोः सुखदुःखयोः ॥७९॥

भावार्थ : इस कारण शुद्ध निश्चयनय के मत से आत्मा चिदानन्द स्वभाव का भोक्ता है, और अशुद्ध निश्चयनय के मत से कर्म के द्वारा किये हुए सुख-दुःख का भोक्ता है ॥७९॥

कर्मणोऽपि च भोगस्य स्त्रगादेर्व्यवहारतः ।
नैगमादिव्यवस्थाऽपि भावनीयाऽनया दिशा ॥८०॥

भावार्थ : जीव सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि कर्म का भी अशुद्ध निश्चयनय से भोक्ता है तथा व्यवहारनय के मत का अबलम्बन लेने से पुष्पमाला, वस्त्र, आभूषण, स्त्री वगैरह भोगों का भी भोक्ता है । नैगम यानी अनेक–विकल्पावलम्बी नय तथा आदि शब्द से संग्रह, व्यवहार वगैरह नयों की व्यवस्था–मर्यादा भी इसी दिशा से ही—अर्थात् विशेषग्राहीनय के मतादि की रनचा के द्वारा जान लेना । यानी पण्डितों को विचारपूर्वक उसकी योजना कर लेनी चाहिए ॥८०॥

कर्त्ताऽपि शुद्धभावानामात्मा शुद्धनयाद्विभुः ।
प्रतीत्य वृत्तिं यच्छुद्धक्षणानामेष मन्यते ॥८१॥

भावार्थ : शुद्ध नय से विभु (व्यापक) आत्मा शुद्ध भावों का कर्त्ता भी होता क्योंकि यह शुद्ध नय शुद्ध क्षणों की वृत्ति की अपेक्षा से (आश्रय लेकर) जीव को कर्त्ता के रूप में मानता है ॥८१॥

अनुपप्लवासाम्राज्ये विसभागपरिक्षये ।
आत्मा शुद्धस्वभावानां जननाय प्रवर्तते ॥८२॥

भावार्थ : अनुपद्रव का साम्राज्य होने पर और विसभाग दशा का नाश होने पर भी आत्मा शुद्ध स्वभाव को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति करता है ॥८२॥

चित्तमेव हि संसारो रागक्लेशादिवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥८३॥

भावार्थ : रागादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार है और उन रागादि क्लेशों से मुक्त हुआ चित्त ही भवान्त कहलाता है ॥८३॥

यश्च चित्तक्षणः क्लिष्टो नासावात्मा विरोधतः ।
अनन्यविकृतं रूपमित्यन्वर्थं ह्यदः पदम् ॥८४॥

भावार्थ : जो चित्त का क्षण (समय) क्लिष्ट है, वह विरोध के कारण आत्मा नहीं है, क्योंकि उस आत्मा का रूप निर्विकार है, इसलिए यह पद सार्थक है ॥८४॥

श्रुतवानुपयोगश्चेत्येतन्मिथ्या यथा वचः ।
तथाऽऽत्मा शुद्धरूपश्चेत्येवं शब्दनया जगुः ॥८५॥

भावार्थ : जैसे ''उपयोग श्रुतवान् ही होता है'' यह वचन मिथ्या है, वैसे ही 'आत्मा शुद्धरूप ही होती है', यह वचन भी मिथ्या है, यों शब्दनय कहते हैं ॥८५॥

शुद्धपर्यायरूपस्तदात्मा शुद्धः स्वभावकृत् ।
प्रथमाप्रथमत्वादिभेदोऽप्येवं हि तात्त्विकः ॥८६॥

भावार्थ : जब आत्मा शुद्ध पर्यायरूप होकर अपने (आत्मा के) स्वभाव को प्रगट करने वाला होता है, तभी आत्मा शुद्ध है। इस प्रकार प्रधानता और अप्रधानता आदि भेद भी पारमार्थिक (वास्तविक) होते हैं ॥८६॥

ये तु दिग्पटदेशीयाः शुद्धद्रव्यतयाऽऽत्मनः ।
शुद्धस्वभावकर्तृत्वं जगुस्तेऽपूर्वबुद्धयः ॥८७॥

भावार्थ : जो दिगम्बरकल्प शुद्धद्रव्यत्व को लेकर आत्मा को शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता कहते हैं, उन्हें अपूर्वबुद्धि वाले समझने चाहिए ॥८७॥

द्रव्यास्तिकस्य प्रकृतिः शुद्धा संग्रहगोचरा ।
येनौक्ता सम्मतौ श्रीमत्सिद्धसेन-दिवाकरैः ॥८८॥

भावार्थ : यही कारण है कि श्रीमान् सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क में द्रव्यास्तिक की शुद्ध प्रकृति संग्रह नय के विषय वाली कही है ॥८८॥

तन्मते च न कर्त्तृत्वं भावानां सर्वदाऽन्वयात् ।
कूटस्थः केवलं तिष्ठत्यात्मा साक्षित्वमाश्रितः ॥८९॥

भावार्थ : उक्त नय के मत से पदार्थों का सदा अन्वय (सम्बन्ध) होने से आत्मा का कर्त्तृत्व नहीं है, अपितु साक्षित्व का आश्रय करने वाली केवल कूटस्थ आत्मा स्थित है ॥८९॥

कर्तुं व्याप्रियते नायमुदासीन इव स्थितः ।
आकाशमिव पंकेन लिप्यते, न च कर्मणा ॥९०॥

भावार्थ : उदासीन की तरह स्थित यह आत्मा कुछ भी करने के लिए व्यापार (प्रवृत्ति) नहीं करती । जैसे कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा कर्म से लिप्त नहीं होती ॥९०॥

स्वरूपं तु कर्तव्यं, ज्ञातव्यं केवलं स्वतः ।
दीपेन दीप्यते ज्योतिर्न त्वपूर्वं विधीयते ॥९१॥

भावार्थ : आत्मा को अपना स्वरूप करना (कर्तव्य) नहीं होता, केवल स्वतः जानना (ज्ञातव्य) होता है। दीपक से ज्योति (प्रकाश) प्रदीप्त होती है, परन्तु उससे कोई अपूर्व ज्योति प्रगट नहीं की जा सकती ॥९१॥

अन्यथा प्रागनात्मा स्यात् स्वरूपाननुवृत्तितः ।
न च हेतुसहस्त्रेणाऽप्यात्मा स्यादनात्मनः ॥९२॥

भावार्थ : अन्यथा (पूर्वोक्त मत को न मानने पर) आत्मा अपने रूप की उत्पत्ति से पहले स्वरूप के असम्बन्ध के कारण अनात्मा (जड़) हो जायगी। और उस अनात्मा का आत्मत्व हजारों हेतुओं से भी सिद्ध (प्राप्त) नहीं होगा ॥९२।

नये तेनेह नो कर्त्ता किन्त्वात्मा शुद्धभावकृत् ।
उपचारात्तु लोकेषु तत्कर्त्तृत्वमपीष्यताम् ॥९३॥

भावार्थ : इसलिए इस नय से आत्मा कर्त्ता नहीं है, परन्तु शुद्ध भाव का धारण करने वाला है और लोकोपचार से उसका (आत्मा का) कर्तृत्व भी भले ही मानें, कोई हर्ज नहीं ॥९३॥

उत्पत्तिमात्मधर्माणां विशेषग्राहिणो जगुः ।
अव्यक्तिरावृतेस्तेषां नाभावादिति का प्रभा ? ॥९४॥

भावार्थ : विशेषग्राही नय आत्मा के धर्मों की उत्पत्ति का कथन करते हैं । उन्हें आवरण के कारण अव्यक्ति (अनभिव्यक्ति) नहीं है, आत्मधर्म के अभाव से अव्यक्ति नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है? ॥९४॥

सत्वं च परसन्ताने नोपयुक्तं कथच्चन ।
सन्तानिनामनित्यत्वात् सन्तानोऽपि च न ध्रुवः ॥९५॥

भावार्थ : परसन्तान में सत्व किसी भी तरह उपयुक्त नहीं होते और सन्तानी की अनित्यता होने से सन्तान भी ध्रुव (नित्य) नहीं होते । जैस पिता से पुत्ररूप सन्तान की उत्पत्ति में पूर्व-पूर्व पितारूप कारण से उत्तरोत्तर पुत्ररूप कार्य की उत्पत्ति होती है, इससे पहले पितृत्व का अभाव और पुत्रत्व का अभाव होता जाता है । इस प्रकार परम्परा से चलते-चलते जैसे पितृत्व का नाश होता है, वैसे पुत्रत्व का भी नाश होता जाता है । इसी तरह परसन्तान से यानी अपने से अतिरिक्त अनात्मा (जड़ पुद्गल) से विविधकाल में आत्मा की उत्पत्ति और विनाश की परम्परा चलती है । अर्थात् उत्पत्तिरूप प्रवाह से पूर्व का अभाव (विनाश) और उत्तर की उत्पत्ति (भाव) होती है । इसके अनुसार पहले पूर्व का, फिर उत्तर का नाश सिद्ध होगा और आत्मा अशाश्वत एवं नाशवान हो जाएगा परन्तु सत्त्व (द्रव्य) का परसन्तानरूप कारण किसी भी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं होता । जैसे तन्तु की परम्परा में मिट्टीरूप द्रव्य का

सम्बन्ध नहीं है, उसी तरह सन्तानी का यानी जीवादि द्रव्य की अनित्यता होने से (निरन्तर एकाकारता न रहने से संतान भी (कार्य में प्रवर्तमान धर्म भी) ध्रुव (नित्य) नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि देव, मनुष्य तिर्यंच और नारक–अवस्था में जो उत्पत्ति हुई, उसका मतलब हुआ–आत्मा उत्पन्न हुई; क्योंकि धर्म और धर्मी का अभेद सम्बन्ध है। इस दृष्टि से सन्तान की अनित्यता के कारण सन्तानी भी अनित्य सिद्ध हुआ ॥९५॥

व्योमाऽप्युत्पत्तिमत्तत्तदवगाहनात्मना ततः ।
नित्यता नात्मधर्माणां तद्दृष्टान्तबलादपि ॥९६॥

भावार्थ : इस कारण आकाश भी उस–उस पदार्थ की अवगाहना के स्वरूप से उत्पत्तिमान है, इस दृष्टान्त के सामर्थ्य से भी आत्मधर्मों की नित्यता नहीं है ॥९६॥

ऋजुसूत्रनयस्तत्र कर्त्तृतां तस्य मन्यते ।
स्वयं परिणमत्यात्मा यं यं भावं यदा यदा ॥९७॥

भावार्थ : आत्मा स्वयं जब–जब यानी जिस–जिस भाव में परिणत होती है। वहाँ–वहाँ ऋजुसूत्रनय आत्मा को उस–उस भाव का कर्त्ता मानता है ॥९७॥

कर्त्तृत्वं परभावानामसौ नाभ्युपगच्छति ।
क्रियाद्वयं हि नैकस्य द्रव्यस्याभिमतं जिनैः ॥९८॥

भावार्थ : यह नय परभावों के कर्त्तृत्व का स्वीकार नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्य में दो क्रियाएँ जिनेश्वरों द्वारा अभिमत नहीं है ॥९८॥

भूतिर्या हि क्रिया सैव स्यादेकद्रव्यसन्ततौ ।

न साजात्यं विना च स्यात् परद्रव्यगुणेषु सा ॥९९॥

भावार्थ : एक द्रव्य की सन्तति में जो क्रिया होनी होती है, वही क्रिया होती है, वह क्रिया परद्रव्य के गुणों में समानजातीयता के बिना नहीं होती ॥९९॥

नन्वेवमन्यभावानां न चेत् कर्त्ताऽपरो जनः ।

तदा हिंसादयादानहरणाद्यव्यवस्थितिः ॥१००॥

भावार्थ : यदि दूसरा कोई (आत्मा) व्यक्ति अन्य भावों का कर्त्ता नहीं होता है, तो फिर हिंसा, दया, दान, और हरण आदि की व्यवस्था नहीं होगी ॥१००॥

सत्यं पराश्रयं न स्यात् फलं कस्यापि यद्यपि ।

तथापि स्वगतं कर्म स्वफलं नातिवर्तते ॥१०१॥

भावार्थ : ''वत्स ! तुम्हारा कहना सत्य है कि पराश्रित फल यद्यपि किसी को भी नहीं होता; तथापि स्वयं में स्थित कर्म अपने फल का उल्लंघन नहीं करता ॥१०१।

हिनस्ति न पर कोऽपि, निश्चयान्न च रक्षति ।

तदायुः कर्मणो नाशे, मृतिर्जीवनमन्यथा ॥१०२॥

भावार्थ : निश्चयदृष्टि से तो कोई किसी दूसरे को नहीं मारता, और न रक्षा ही करता है, परन्तु उसके आयुष्यकर्म का नाश होने पर मृत्यु होती है, अन्यथा वह जीवित रहता है ॥१०२॥

हिंसादयाविकल्पाभ्यां स्वगताभ्यां तु केवलम् ।
फलं विचित्रमाप्नोति परापेक्षां विना पुमान् ॥१०३॥

भावार्थ : केवल अपने में स्थित हिंसा और दया के परिणाम से पुरुष (व्यक्ति) अन्य की अपेक्षा के बिना ही विचित्र फल प्राप्त कर लेता है ॥१०३॥

शरीरी म्रियतां मा वा ध्रुवं हिंसा प्रमादिनः ।
दयैव यतमानस्य वधेऽपि प्राणिनां क्वचित् ॥१०४॥

भावार्थ : जीव मरे या न मरे, फिर भी प्रमादी जीव को हिंसा अवश्य लगती है । किन्तु यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले को कदाचित् प्राणियों का वध होने पर भी वह दया ही होती है ॥१०४॥

परस्य युज्यते दानं हरणं वा न कस्यचित् ।
न धर्मसुखयोर्यत्ते कृतनाशादिदोषतः ॥१०५॥

भावार्थ : किसी को किसी दूसरे का दान अथवा हरण (ग्रहण) करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वह दान या हरण (आदान) कृतनाश वगैरह दोष के कारण धर्म और सुख के लिए नहीं होता ॥१०५॥

भिन्नाभ्यां भक्तवित्तादिपुद्‌गलाभ्यां च ते कुतः ।
स्वत्वापत्तिर्यतो दानं हरणं स्वत्वनाशनम्‌ ॥१०६॥

भावार्थ : आत्मा से भिन्न भक्त (भोजन) और धन आदि पुद्गलों से दान और हरण कैसे हो सकता है? क्योंकि दान स्वकीयत्व की प्राप्तिरूप है और हरण स्वकीयत्व का नाशरूप है ॥१०६॥

कर्मोदयाच्च तद्‌दानं हरणं वा शरीरिणाम्‌ ।
पुरुषाणां प्रयासः कस्तत्रोपनमति स्वतः ॥१०७॥

भावार्थ : और फिर दान और हरण दोनों प्राणियों के कर्मोदय से होते हैं, वे अपने आप ही परिणत होते (उदय में आते) हैं, इसमें पुरुषों (आत्माओं) को कौन-सा प्रयास करना होता है? ॥१०७॥

स्वगताभ्यां तु भावाभ्यां केवलं दानचौर्ययोः ।
अनुग्रहोपघातौ स्तः परापेक्षा परस्य न ॥१०८॥

भावार्थ : केवल आत्मा में स्थित दान और चोरी के भाव (परिणाम=विकल्प) से अनुग्रह और उपघात होता है, इसमें अन्य को अन्य की अपेक्षा नहीं होती ॥१०८॥

पराश्रितानां भावानां कर्तृत्वाद्यभिमानतः ।
कर्मणा बध्यतेऽज्ञानी, ज्ञानवांस्तु न लिप्यते ॥१०९॥

भावार्थ : पर के आश्रित भावों के कर्त्तृत्व आदि के अभिमान से अज्ञानी प्राणी कर्म से बद्ध होता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष उससे लिप्त नहीं होता। अब यह निश्चय हो गया कि आत्मा पराश्रित (अपने से अतिरिक्त पुद्गलादि के आश्रित रहे हुए) भावों=पर्यायों का=पुद्गलपर्यायजनित कार्यों का, कर्त्ता नहीं है। तथापि भ्रमणवश अपने से अतिरिक्त पुद्गलादि आश्रित पर्यायों का यानी उनसे उत्पन्न हुए कार्यों के कर्त्तृत्व, भोक्तत्व आदि के अभिमानवश 'मैं करता हूँ,' 'मैं भोगता हूँ' इस प्रकार की बुद्धि से तत्त्वबोध रहित अज्ञानी जीव कर्मों से बंध जाता है; किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष इस भ्रम में नहीं आकर आत्मा को केवल स्वभाव का कर्त्ता मानता है, पुद्गलादि पर्यायजनित कार्यों का अपने को कर्ता-भोक्ता नहीं मानता, इसलिए वह (तत्त्वज्ञ) उस कर्मबन्धन से लिप्त (बद्ध) नहीं होता ॥१०९॥

कर्तैवमात्मा नो पुण्यपापयोरपि कर्मणोः ।
रागद्वेषाशयानां तु कर्त्तेष्टानिष्टवस्तुषु ॥११०॥

भावार्थ : इस प्रकार आत्मा पुण्य और पापरूप कर्म का भी कर्त्ता नहीं है, परन्तु इष्ट और अनिष्ट वस्तु के विषय में राग और द्वेष के परिणामों का कर्त्ता है ॥११०॥

रज्यते द्वेष्टि वार्थेषु तत्तत्कार्यविकल्पतः ।
आत्मा यदा-तदा कर्म भ्रमादात्मनि युज्यते ॥१११॥

भावार्थ : जब आत्मा उस-उस कार्य के विकल्प से पदार्थों पर राग करता है या द्वेष करता है, तब भ्रम से आत्मा कर्म से बंधती है—जुड़ जाता है ॥१११॥

स्नेहाभ्यक्तनोरंगं रेणुनाश्लिष्यते यथा ।
रागद्वेषानुविद्धस्य कर्मबन्धस्तथा मतः ॥११२॥

भावार्थ : जैसे किसी ने शरीर पर तेल वगैरह का मर्दन (मालिश) किया हो, उस पुरुष के अंग पर धूल (रज) चिपक जाती है, वैसे ही राग-द्वेष-युक्त आत्मा में कर्म का बन्ध माना गया है ॥११२॥

लोहं स्वक्रिययाऽभ्येति भ्रामकोपलसन्निधौ ।
यथाकर्म तथा चित्रं रक्तद्विष्टात्मसन्निधौ ॥११३॥

भावार्थ : जैसे लोहा अपनी क्रिया से भ्रामक पाषाण (चुम्बक) के पास खिंचा हुआ चला जाता है, वैसे ही रागी और द्वेषी आत्मा के पास विचित्र प्रकार के कर्म खिंचे हुए चले आते हैं ॥११३॥

आत्मा न व्यापृतस्तत्र रागद्वेषाशयं सृजन् ।
तन्निमित्तोपनम्रेषु कर्मोपादानकर्मसु ॥११४॥

भावार्थ : उन कर्मों को ग्रहण करने में आत्मा (अकेला) व्यापार नहीं करता—प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु राग और द्वेष के परिणाम को उत्पन्न करता हुआ उसके निमित्त से

परिणत होते हुए कर्म को ग्रहण करने वाले रागादि करने में प्रवृत्त होता है ॥११४॥

वारि वर्षन् यथाम्भोदो धान्यवर्षी निगद्यते ।
भावकर्म सृजन्नात्मा तथा पुद्गलकर्मकृत् ॥११५॥

भावार्थ : जैसे पानी बरसाता हुआ बादल लोकव्यवहार में धान्य (अनाज) बरसाता है, ऐसा कहा जाता है, इसी प्रकार भावकर्मों को उत्पन्न करती हुई आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता भी कहलाती है ॥११५॥

नैगम-व्यवहारौ तु ब्रूतः कर्मादिकर्तृताम् ।
व्यापारः फलपर्यन्तः परिदृष्टो यदात्मनः ॥११६॥

भावार्थ : नैगमनय और व्यवहारनय आत्मा को कर्मादि का कर्त्ता कहते हैं; क्योंकि आत्मा का व्यापार (प्रवृत्ति) फलपर्यन्त देखा गया है ॥११६॥

अन्योऽन्यानुगतानां का तदेतदिति वा भिदा ।
यावच्चरमपर्यायं यथा पानीयदुग्धयोः ॥११७॥

भावार्थ : अथवा एक दूसरे में परस्पर मिले हुए नयों में 'वह यह है', इस प्रकार का दूध और पानी के समान अन्तिम पर्याय तक भेद कहाँ से हो सकता है? हर्गिज नहीं हो सकता ! ॥११७॥

नात्मनो विकृतिं दत्ते, तदेषा नयकल्पना ।
शुद्धस्य रजतस्येव शुक्ति-धर्म-प्रकल्पना ॥११८॥

भावार्थ : इसलिए जैसे सीप के धर्म की कल्पना शुद्ध चाँदी के विकार को नहीं दी जाती, वैसे ही इस नय की कल्पना आत्मा के विकार को नहीं दी जाती ॥११८॥

मुषितत्वं यथा पान्थगतं पथ्युपचर्यते ।
तथा पुद्गलकर्मस्था विक्रियाऽऽत्मनि बालिशैः ॥११९॥

भावार्थ : जैसे किसी पथिक को चोर लूट लेता है, तब उपचार से कहा जाता है—"मार्ग में लुट गया है" । इसी प्रकार मूर्ख लोग पुद्गलकर्म में होने वाली क्रिया का आत्मा में उपचार करते हैं ॥११९॥

कृष्णः शोणोऽपि चोपाधेर्नाशुद्धः स्फटिको यथा ।
रक्तो द्विष्टस्तथैवात्मा संसर्गात् पुण्यपापयोः ॥१२०॥

भावार्थ : जैसे शुद्ध स्फटिकमणि उपाधि के कारण काला या लाल दिखता है, किन्तु वास्तव में वह अशुद्ध नहीं है । वैसे ही आत्मा अशुद्ध न होते हुए भी पुण्य-पाप के संयोग से रागी-द्वेषी दिखती है ॥१२०॥

सेयं नटकला तावद् यावद् विविधकल्पना ।
यद्रूपं कल्पनातीतं तत्तु पश्यत्यकल्पकः ॥१२१॥

भावार्थ : जब तक विविध प्रकार की कल्पना है, तब तक यह नटों की कला है । परन्तु जो रूप कल्पनातीत (कल्पना से परे) है, उसे तो कल्पनारहित (अकल्पक) आत्मा ही देखती है ॥१२१॥

कल्पनामोहितो जन्तुः शुक्लं कृष्णं च पश्यति ।
तस्यां पुनर्विलीनायामशुक्लाकृष्णमीक्षते ॥१२२॥

भावार्थ : कल्पना से मोहित प्राणी शुक्ल (सफेद) और कृष्ण (काले) को देखता है । परन्तु उस कल्पना के लय (नाश) होते ही शुक्ल या कृष्ण को नहीं देखता ॥१२२॥

तद्ध्यानं सा स्तुतिर्भक्तिः सैवोक्ता परमात्मनः ।
पुण्यपापविहीनस्य यद्रूपस्यानुचिन्तनम् ॥१२३॥

भावार्थ : इसलिए पुण्य-पाप से रहित आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही परमात्मा का ध्यान है, वही उसकी स्तुति है, और वही भक्ति बताई गई है ॥१२३॥

शरीररूपलावण्यवप्रच्छत्रध्वजादिभिः ।
वर्णितैर्वीतरागस्य वास्तवी नोपवर्णना ॥१२४॥

भावार्थ : वीतराग के शरीर, रूप, लावण्य, वप्र, छत्र और ध्वज आदि का वर्णन करने से वास्तविक प्रशंसा नहीं होती ॥१२४॥

व्यवहारस्तुतिः सेयं वीतरागात्मवर्तिनाम् ।
ज्ञानादीनां गुणानां तु वर्णना निश्चयस्तुतिः ॥१२५॥

भावार्थ : यह सब व्यवहारदृष्टि से स्तुति (प्रशंसा) है, वीतराग आत्मा में अवस्थित ज्ञानादि गुणों की प्रशंसा करना ही निश्चय स्तुति समझनी चाहिए ॥१२५॥

पुरादिवर्णनाद् राजा स्तुतः स्यादुपचारतः ।
तत्त्वतः शौर्य-गाम्भीर्य-धैर्यादि-गुणवर्णनात् ॥१२६॥

भावार्थ : नगर आदि के वर्णन से राजा की स्तुति= प्रशंसा उपचार से कहलाती है, किन्तु उसके शौर्य, गाम्भीर्य और धैर्य आदि गुणों के वर्णन करने से ही तत्त्वतः (वास्तविक) स्तुति कहलाती है ॥१२६॥

मुख्योपचारधर्माणामविभागेन या स्तुतिः ।
न सा चित्तप्रसादाय कवित्वं कुकवेरिव ॥१२७॥

भावार्थ : मुख्यधर्म और उपचारधर्म का विभाग किये बिना जो स्तुति की जाती है, वह कुकवि की कविता के समान चित्त को प्रसन्न करने वाली नहीं होती ॥१२७॥

अन्यथाऽभिनिवेशेन प्रत्युताऽनर्थकारिणी ।
सुतीक्ष्णखड्गधारेव प्रमादेन करे धृता ॥१२८॥

भावार्थ : अन्यथा हठपूर्वक की गई स्तुति वैसी ही अनर्थकारिणी है, जैसी अनर्थकारिणी असावधानी से हाथ में पकड़ी हुई पैनी तलवार की धार होती है ॥१२८॥

मणिप्रभा-मणिज्ञान-न्यायेन शुभकल्पना ।
वस्तुस्पर्शितया न्याय्या यावन्नाऽनञ्जनप्रथा ॥१२९॥

भावार्थ : 'मणि की कान्ति से मणि का ज्ञान होता है', इस न्याय से वस्तु का स्पर्श करना वस्तुज्ञान के लिए उपयुक्त है; किन्तु जबतक अनञ्जनप्रथा न हो, तब तक ही शुभकल्पना न्याययुक्त है ॥१२९॥

पुण्य-पापविनिर्मुक्तं तत्त्वतस्त्वविकल्पकम् ।
नित्यं ब्रह्म सदा ध्येयमेषा शुद्धनयस्थितिः ॥१३०॥

भावार्थ : पुण्य और पाप से सर्वथा मुक्त, तत्त्व से निर्विकल्प, तथा नित्य ब्रह्म का सदा ध्यान करना ही शुद्ध नय की स्थिति है ॥१३०॥

आश्रवः संवरश्चाऽपि नात्मा विज्ञानलक्षणः ।
यत्कर्मपुद्गलादानरोधावाश्रव-संवरौ ॥१३१॥

भावार्थ : आत्मा-संवररूप भी नहीं है, वह तो विज्ञानलक्षण वाली है; जब कि आश्रव और संवर दोनों कर्मपुद्गलों के क्रमशः ग्रहणनिरोधरूप हैं ॥१३१॥

आत्माऽऽदत्तेतु यैर्भावैः स्वतन्त्रः कर्मपुद्गलात् ।
मिथ्यात्वाऽविरती योगाःकषायास्तेऽन्तराश्रवाः ॥१३२॥

भावार्थ : आत्मा जिन परिणामों (भावों) से स्वतन्त्र रूप से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है, उन मिथ्यात्व, अविरति,

योग और कषायरूप परिणामों को आभ्यन्तर आश्रव समझना चाहिए ॥१३२॥

भावना-धर्म-चारित्र-परीषहजयादयः ।
आश्रवोच्छेदिनो धर्मा आत्मनो भावसंवराः ॥१३३॥

भावार्थ : भावना दशविध उत्तम धर्म, चारित्र और परीषह-जय आदि आश्रवों के विनाशक जो आत्मा के धर्म हैं, वे भावसंवर कहलाते हैं ॥१३३॥

आश्रवः संवरो न स्यात् संवरश्चाश्रवः क्वचित् ।
भवमोक्षफलाभेदोऽन्यथा स्याद्धेतुसंकरात् ॥१३४॥

भावार्थ : आश्रव संवर नहीं हो सकते और न कभी संवर ही आश्रव हो सकते हैं। अन्यथा (अगर ऐसा न मानें तो) हेतु के सांकर्यदोष (एक दूसरे में मिश्रित दोष) होने से संसार और मोक्ष के फल की अभिन्नता हो जाएगी ॥१३४॥

कर्माश्रवांश्च संवृणान्नात्मा भिन्नैर्निजाशयैः ।
करोति न परापेक्षामलंभूष्णुं स्वतः सदा ॥१३५॥

भावार्थ : आत्मा अपने भिन्न-भिन्न परिणामों से कर्मों का आश्रव (ग्रहण) करता हुआ और संवर (निरोध) करता हुआ भी पर की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि आत्मा सदा अपने आप में स्वतः समर्थ है ॥१३५॥

निमित्तमात्रभूतास्तु हिंसाऽहिंसादयोऽखिलाः ।
ये परप्राणिपर्याया न ते स्वफलहेतवः ॥१३६॥

भावार्थ : हिंसा, अहिंसा आदि सब केवल निमित्तभूत ही हैं, क्योंकि जो परप्राणी के पर्याय है, वे अपने फल के हेतुरूप नहीं हैं ॥१३६॥

व्यवहारविमूढस्तु हेतूंस्तानेव मन्यते ।
बाह्यक्रियारतस्वान्तस्तत्त्वं गूढं न पश्यति ॥१३७॥

भावार्थ : किन्तु व्यवहार में मूढ़ात्मा उन हिंसादि को ही हेतुरूप मानता है, क्योंकि जिसका अन्तःकरण बाह्य क्रियाओं में रचा-पचा है, वह गहन तत्त्व को नहीं देखता-समझता ॥१३७॥

हेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते नवैते नियमास्पृशः ।
यावन्तः आश्रवाः प्रोक्तास्तावन्तो हि परिश्रवाः ॥१३८॥

भावार्थ : चूंकि ये नियम का स्पर्श नहीं करते, इस कारण से (हिंसादि) हेतुत्व को प्राप्त नहीं करते, क्योंकि जितने आश्रव कहे गए हैं, उतने ही संवर कहे गए हैं ॥१३८॥

तस्मादनियतं रूपं बाह्यहेतुषु सर्वथा ।
नियतौ भाववैचित्र्यादात्मैवाश्रव-संवरौ ॥१३९॥

भावार्थ : इस कारण बाह्य हेतुओं में सर्वथा अनियमितता (अनिश्चितता) है, अतः भावों की विचित्रता के कारण आत्मा

ही आश्रव और संवररूप नियत (निश्चित) है ॥१३९॥

अज्ञानाद्विषयासक्तो बध्यते विषयैस्तु न ।
ज्ञानाद्विमुच्यते चात्मा, न तु शास्त्रादिपुद्‌गलात् ॥१४०॥

भावार्थ : आत्मा अज्ञान से विषयासक्त होकर कर्मों से बंधती है, परन्तु विषयों से नहीं; तथैव आत्मा ज्ञान से मुक्त होती है, शास्त्रादि पुद्गल से मुक्त नहीं होती ॥१४०॥

शास्त्रं गुरोश्च विनयं क्रियामावश्यकानि च ।
संवरांगतया प्राहुर्व्यवहारविशारदाः ॥१४१॥

भावार्थ : शास्त्र, गुरुविनय, क्रिया और आवश्यक इन सबका व्यवहार में पारंगत पुरुषों ने संवर के अंगरूप में कहा गया है ॥१४१॥

विशिष्टा वाक्तनुस्वान्तपुद्‌गलास्ते पलावहाः ।
ये तु ज्ञानादयो भावाः संवरत्वं प्रयान्ति ते ॥१४२॥

भावार्थ : वाणी, शरीर और मन के जो विशिष्ट पुद्गल हैं, वे फलदायक नहीं हैं, परन्तु आत्मा के जो ज्ञानादिभाव हैं, वे ही संवररूप को प्राप्त करते हैं ॥१४२॥

ज्ञानादिभावयुक्तेषु शुभयोगेषु तद्‌गतम् ।
संवरत्वं समारोप्य स्मयन्ते व्यवहारिणः ॥१४३॥

भावार्थ : व्यवहार को जानने वाले व्यक्ति ज्ञानादि परिणामों से युक्त शुभ योगों में उनमें निहित संवरत्व का

आरोपण करके मन में गर्वित होते हैं । ज्ञान, प्रशम और कारुण्य आदि आत्मा के परिणामों से युक्त शुभ योगों में यानी धर्म के निमित्त से प्रवृत्त मन-वचन-काया के व्यापारों में उन भावों में स्थित संवरत्व-कर्मनिरोधरूप स्वभाव-का आरोपण (संकल्प) करके व्यवहारज्ञ पुरुष अभिमानपूर्वक कहते हैं कि 'हम धर्मात्मा हैं ।' वास्तव में अभिमान उसी में जागृत होता है, जो वस्तुतत्व को न जानता हो, वस्तुतत्वज्ञ को अभिमान नहीं होता ॥१४३॥

प्रशस्तरागयुक्तेषु चारित्रादिगुणेष्वपि ।
शुभाश्रवत्वमारोप्य फलभेदं वदन्ति ते ॥१४४॥

भावार्थ : प्रशस्तराग से युक्त चारित्रादि गुणों के विषय में भी आश्रवत्व का आरोप करके वे फलभेद बताते हैं ॥१४४॥

भवनिर्वाणहेतूनां वस्तुतो न विपर्ययः ।
अज्ञानादेव तद्भानं ज्ञानी तत्र न मुह्यति ॥१४५॥

भावार्थ : वास्तव में संसार और मोक्ष के हेतुओं में विपर्यास नहीं होता, फिर भी उसका भान अज्ञान से होता है । उसमें ज्ञानी मोहित नहीं होता ॥१४५॥

तीर्थकृन्नामहेतुत्वं यत्समयक्त्वस्य वर्ण्यते ।
यच्चाहारकहेतुत्वं संयमस्यातिशायिनः ॥१४६॥
तपःसंयमयोः स्वर्गहेतुत्वं यच्च पूर्वयोः ।

उपचारणे तद्युक्तं स्याद् घृतं दहतीतिवत् ॥१४७॥

भावार्थ : सम्यक्त्व को जो तीर्थंकरनाम का हेतु (कारण) बताया जाता है, और उत्कृष्ट संयम को आहारक शरीर का हेतु कहा जाता है, क्योंकि आहारक शरीर उत्कृष्ट (अतिशय) लब्धिवान् संयमी मुनि को ही होता है। पहले के तप और संयम को स्वर्ग का हेतु कहा गया है, वह 'घी जलता है' ऐसा कहने की तरह उपचार से उपयुक्त कथन है ॥१४६-१४७॥

येनांशेनात्मनो योगस्तेनांशेनाश्रवो मतः ।
येनांशेनोपयोगस्तु तेनांशेनास्य संवरः ॥१४८॥

भावार्थ : जितने अंशों में आत्मा का योग हो, उतने अंशों में उसे आश्रव माना गया है, और जितने अंश में ज्ञानादि का उपयोग है, उतने अंश में उसका संवर है ॥१४८॥

येनासावंशविश्रान्तौ बिभ्रदाश्रवसंवरौ ।
भात्यादर्श इव स्वच्छास्वच्छभागद्वयः सदा ॥१४९॥

भावार्थ : इस कारण यह आत्मा अंश की विश्रान्ति में आश्रव और संवर को धारण करती हुई स्वच्छ (निर्मल) और अस्वच्छ (मलिन) इस तरह दो भागों को धारण करने वाले दर्पण की तरह सदा सुशोभित होती है ॥१४९॥

शुद्धैव ज्ञानधारा स्यात् सम्यक्त्व-प्राप्त्यनन्तरम् ।

हेतुभेदाद् विचित्रा तु योगधारा प्रवर्तते ॥१५०॥

भावार्थ : सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ज्ञानधारा शुद्ध ही होती है और हेतु के भेद के कारण विचित्र योगधारा प्रवृत्त होती है ॥१५०॥

सम्यग्दृशो विशुद्धत्वं सर्वास्वपि दशास्वतः ।
मृदुमध्याधिभावस्तु क्रियावैचित्र्यतो भवेत् ॥१५१॥

भावार्थ : उसके बाद सम्यग्दृष्टि की समस्त दशाओं में विशुद्धता हो जाती है । जधन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भाव तो क्रिया की विचित्रता के कारण होता है ॥१५१॥

यदा तु सर्वतः शुद्धिर्जायते धारयोर्द्वयोः ।
शैलेशीसंज्ञितः स्थैर्यात् तदा स्यात् सर्वसंवरः ॥१५२॥

भावार्थ : और जब सब प्रकार से दोनों धाराओं की शुद्धि होती है, तब शैलेशी नामक स्थैर्य से सर्वसंवर होता है ॥१५२॥

ततोऽर्वाग् यच्च यावच्च स्थिरत्वं तावदात्मनः ।
संवरो योगचाञ्चल्यं यावत् तावत् किलाश्रवः ॥१५३॥

भावार्थ : उससे पहले जैसी और जितनी आत्मा की स्थिरता हो, उतना ही आत्मा का संवर जानना और जितनी और जैसी योगों की चपलता हो, उतना ही आश्रव समझना ॥१५३॥

अशुद्धनयतश्चैवं संवराश्रवसंकथा ।

संसारिणां च सिद्धानां न शुद्धनयतो भिदा ।।१५४।।

भावार्थ : इस प्रकार अशुद्ध नय से ही संसारी जीवों का संवर और आश्रव का कथन है, परन्तु सिद्धजीवों का भी शुद्ध नय से कोई भेद नहीं होता। पहले कहे अनुसार अशुद्ध नय से यानी सामान्य और विशेष अंश की शुद्धि वगैरह वस्तुधर्म के ग्रहण करने को लेकर अशुद्ध नैगमादि द्रव्यार्थिकनय का स्वीकार करने से संसारी जीवों के लिए संवर और आश्रव का कथन (विचार) प्रवृत्त होता है; जब कि मुक्तजीवों के लिए तो शुद्ध नय से यानी सर्वांशशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेने से भेद है ही नहीं। अतः वहाँ आश्रव और संवर का विचार है ही नहीं। वास्तव में अशुद्धनय ही आत्मा को आश्रव-संवर-पर्यायरूप मानता है। शुद्ध नय तो आत्मा को केवल ज्ञानादिस्वरूप मानता है। उसके मतानुसार जीव के संसारी और सिद्ध दो भेद नहीं होते, आत्मा को वह (नय) आश्रव-संवर से भिन्न मानता है ।।१५४।।

निर्जरा कर्मणां शाटो, नात्माऽसौ कर्मपर्ययः ।
येन निर्जीर्यते कर्म स भावस्त्वात्मलक्षणम् ।।१५५।।

भावार्थ : कर्मों का परिशाटन=क्षय निर्जरा कहलाता है। निर्जरा कर्म का पर्याय होने से आत्मारूप नहीं है, परन्तु जिस भाव से कर्मनिर्जरा होती है, उस भाव को आत्मा का लक्षण

जानना ॥१५५॥

सत्तपो द्वादशविधं शुद्धज्ञानसमन्वितम् ।
आत्मशक्ति-समुत्थानं चित्तवृत्तिनिरोधकृत् ॥१५६॥

भावार्थ : आत्मशक्ति से उत्पन्न, चित्तवृत्ति का निरोधकर्त्ता और शुद्धज्ञान से युक्त सत्तप होता है, जो १२ प्रकार का है ॥१५६॥

यत्र रोधः कषायाणां, ब्रह्म ध्यानं जिनस्य च ।
ज्ञातव्यं तत्तपः शुद्धमवशिष्टं तु लंघनम् ॥१५७॥

भावार्थ : जिस तप में कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य और वीतराग का ध्यान होता हो, उसे ही शुद्ध तप समझना चाहिए, शेष सबको लंघन ही समझना ॥१५७॥

बुभुक्षा देहकार्श्यं वा तपसो नास्ति लक्षणम् ।
तितिक्षा-ब्रह्मगुप्त्यादिस्थानं ज्ञानं तु तद्वपुः ॥१५८॥

भावार्थ : क्षुधा और देह की कृशता कोई तप का लक्षण नहीं है, परन्तु तितिक्षा और ब्रह्मचर्यपालन आदि के स्थानरूप जो ज्ञान है, वही उस तप का शरीर है ॥१५८॥

ज्ञानेन निपुणेनैक्यं प्राप्तं चन्दनगन्धवत् ।
निर्जरामात्मनो दत्ते, तपो नान्यादृशं क्वचित् ॥१५९॥

भावार्थ : चन्दन और उसकी सुगन्ध के समान निपुण ज्ञान के साथ एकमेक हुई तपस्या आत्मा की निर्जरा करती है ।

उससे भिन्न प्रकार की तपस्या कदापि निर्जरा नहीं दिलाती है ॥१५९॥

तपस्वी जिनभक्त्या च शासनोद्भासनोत्थया[1] ।
पुण्यं बध्नाति बहुलं मुच्यते तु गतस्पृहः ॥१६०॥

भावार्थ : तपस्वी (मुनि) शासन (संघ) की उन्नति जिन-भक्ति से अत्यधिक पुण्य बांधता है और सब प्रकार की स्पृहा से रहित तपस्वी मुक्त हो जाता है ॥१६०॥

कर्मतापकरं ज्ञानं तपस्तन्नैव वेत्ति यः ।
प्राप्नोति स हतस्वान्तो विपुलां निर्जरां कथम् ॥१६१॥

भावार्थ : जो तपस्वी यह नहीं जानता है कि कर्म को तपाने वाला ज्ञान ही तप है; वह नष्टचित्त वाला मुनि महान् निर्जरा कैसे कर सकता है ? ॥१६१॥

अज्ञानी तपसा जन्मकोटिभिः कर्म यन्नयेत् ।
अन्तं ज्ञानतपोयुक्तस्तत्क्षणेनैव संहरेत् ॥१६२॥

भावार्थ : अज्ञानी मनुष्य जिस कर्म का तपस्या से करोड़ों जन्मों में नष्ट करता है, उसी कर्म को ज्ञान और तप से युक्त मुनि क्षण भर में ही नष्ट कर डालता है ॥१६२॥

---

१. किसी-किसी प्रति में 'शासनोद्भासनोत्थया' के बदले 'शासनोद्भासनेच्छया' शब्द है ।

ज्ञानयोगतप:शुद्धमित्याहुर्मुनिपुंगवा: ।
तस्मान्निकाचितस्यापि कर्मणो युज्यते क्षय: ॥१६३॥

भावार्थ : ज्ञानयोगरूप तप को ही श्रेष्ठ मुनियों ने शुद्ध तप कहा है, क्योंकि उससे निकाचित कर्म का भी श्रय हो जाता है ॥१६३॥

यदिहाऽपूर्वकरणं श्रेणि, शुद्धा च जायते ।
ध्रुव: स्थितिक्षयस्तत्र स्थितानां प्राच्यकर्मणाम् ॥१६४॥

भावार्थ : क्योंकि उस ज्ञानयोगरूप तप में अपूर्वकरण और शुद्ध श्रेणी उत्पन्न होती है। इससे पूर्वकर्मों की स्थिति अवश्य ही नष्ट हो जाती है ॥१६४॥

तस्माज्ज्ञानमय: शुद्धस्तपस्वी भावनिर्जरा ।
शुद्धनिश्चयतस्त्वेषा सदा शुद्धस्य काऽपि ॥१६५॥

भावार्थ : इस कारण ज्ञानमय शुद्ध तपस्वीभाव निर्जरारूप है और शुद्ध-निश्चयनय से सदा शुद्ध आत्मा (सिद्ध) के बिल्कुल निर्जरा नहीं होती ॥१६५॥

बन्ध: कर्मात्मसंश्लेषो द्रव्यत: स चतुर्विध: ।
तद्धेत्वध्यवसायात्मा भावतस्तु प्रकीर्तित: ॥१६६॥

भावार्थ : कर्म के साथ आत्मा का जो संश्लेष होता है, वह बंध कहलाता है। वह द्रव्य से चार प्रकार का है; और

भाव से वह बन्ध के हेतुरूप अध्यवसाय के स्वरूप वाला कहलाता है ॥१६६॥

वेष्टयत्यात्मनाऽऽत्मानं यथा सर्पस्तथाऽसुमान् ।
तत्तद्भावैः परिणतो बध्नात्यात्मानमात्मना ॥१६७॥

भावार्थ : जैसे साँप अपने शरीर से अपने शरीर को लपेट लेता है, वैसे प्राणी भी उस उस भाव से परिणमन पाकर अपनी आत्मा (अपने परिणाम) से अपनी आत्मा को बांध लेता है ॥१६७॥

बध्नाति स्वं-यथा कोशकारकीटः स्वतन्तुभिः ।
आत्मनः स्वगतैर्भावैर्बन्धने सोपमा स्मृता ॥१६८॥

भावार्थ : जैसे रेशम का कीड़ा अपने तन्तुओ (रेशों से) अपने शरीर को बांधता है, वैसे ही आत्मा भी अपने अन्दर स्थित भावों से बन्धता है, यह उपमा ज्ञानियों ने दी है ॥१६८॥

जन्तूनां सापराधानां बन्धकारी न हीश्वरः ।
तद्बन्धकानवस्थानादबन्धस्याप्रवृत्तितः ॥१६९॥

भावार्थ : अपराधी प्राणियों को बन्धन में डालने वाला ईश्वर नहीं है; क्योंकि उसके बन्ध करने वाले का अनवस्थान है और बन्धरहित को प्रवृत्ति का अभाव है ॥१६९॥

न चाज्ञानप्रवृत्त्यर्थे ज्ञानवन्नोदना ध्रुवा ।
अबुद्धिपूर्वकार्येषु स्वप्नादौ तददर्शनात् ॥१७०॥

भावार्थ : अज्ञान में प्रवृत्त करने के लिए ज्ञानवान की

प्रेरणा होती ही नहीं । क्योंकि स्वप्नादि में अज्ञानपूर्वक किये जाने वाले कार्यों में वह प्रेरणा दिखती नहीं ॥१७०॥

तथाभव्यतया जन्तुर्नोदितश्च प्रवर्त्तते ।
बध्नन् पुण्यं च पापं च परिणामानुसारतः ॥१७१॥

भावार्थ : परिणाम के अनुसार पुण्य और पापकर्म का बन्ध करता हुआ जीव अपनी तथाप्रकार की भव्यता से प्रेरित होता है ॥१७१॥

शुद्धनिश्चयतस्त्वात्मा न बद्धो बन्धशंकया ।
भयकम्पादिकं किन्तु रज्जावहिमतेरिव ॥१७२॥

भावार्थ : शुद्ध निश्चयनय से तो आत्मा बँधती ही नहीं, अबन्धक है; परन्तु बन्ध की शंका से रस्सी में साँप की भ्रांति की तरह भय, कंप आदि को प्राप्त करता है ॥१७२॥

रोगस्थित्यनुसारेण प्रवृत्ती रोगिमो यथा ।
भवस्थित्यनुसारेण तथा बन्धेऽपि वर्ण्यते ॥१७३॥

भावार्थ : जैसे रोग की स्थिति के अनुसार रोगी की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही भवस्थिति के अनुसार जीव की बन्ध के विषय में भी प्रवृत्ति कही है ॥१७३॥

दृढ़ाज्ञानमयीं शंकामेनामपनिनीषवः ।
अध्यात्मशास्त्रमिच्छन्ति श्रोतुं वैराग्यकांक्षिणः ॥१७४॥

भावार्थ : इस दृढ़ अज्ञानमयी शंका को दूर करने के

इच्छुक एव वैराग्याकांक्षी पुरुष ही अध्यात्मशास्त्र को सुनना चाहता है ॥१७४॥

दिशः प्रदर्शकं शाखाचन्द्रन्यायेन तत्पुनः ।
प्रत्यक्षविषयां शंकां नहि हन्ति परोक्षधीः ॥१७५॥

भावार्थ : यह शास्त्र शाखाचन्द्रन्याय से केवल दिशा दिखा देता है, परन्तु परोक्षज्ञान प्रत्यक्षविषयक शंका का निवारण नहीं करता ॥१७५॥

शंखे श्वेत्यानुमानेऽपि दोषात्पीतत्वधीर्यथा ।
शास्त्रज्ञानेऽपि मिथ्याधीसंस्काराद् बन्धधीस्तथा ॥१७६॥

भावार्थ : जैसे शंख में श्वेतत्व (सफेदपन) का ज्ञान होते हुए भी दोष के कारण उसमें पीतत्व (पीलेपन) की बुद्धि होती है, वैसे ही शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी मिथ्याबुद्धि के संस्कार से आत्मा में बंध की बुद्धि होती है ॥१७६॥

श्रुत्वा मत्वा मुहुः स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये ।
तत्त्वं न बन्धधीस्तेषामात्माऽबन्धः प्रकाशते ॥१७७॥

भावार्थ : जो बार-बार तत्त्व सुनकर उस पर मनन करके, तथा उसका स्मरण करके साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हें बन्ध की बुद्धि नहीं होती, उन्हें आत्मा अबन्ध (बन्धरहित) प्रकाशित होती है ॥१७७॥

द्रव्यमोक्षः क्षयः कर्मद्रव्याणां नात्मलक्षणम् ।
भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी ॥१७८॥

भावार्थ : कर्मद्रव्यों का जो क्षय, वह द्रव्यमोक्ष कहलाता है, पर वह आत्मा का लक्षण नहीं है । परन्तु उस द्रव्यमोक्ष का हेतुरूप रत्नत्रयी से युक्त जो आत्मा है, वह भावमोक्ष कहलाती है ॥१७८॥

ज्ञानदर्शनचारित्रैरात्मैक्यं लभते यदा ।
कर्माणि कुपितानीव भवन्त्याशु तदा पृथक् ॥१७९॥

भावार्थ : जब आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ एक्य (तादाम्य) प्राप्त कर लेता है, तब कर्म मानो कुपित हो कर शीघ्र ही पृथक् हो जाते हैं ॥१७९॥

अतो रत्नत्रयं मोक्षस्तदभावे कृतार्थता ।
पाखंडिगणलिंगैश्च गृहिलिंगैश्च काऽपि न ॥१८०॥

भावार्थ : इस कारण रत्नत्रयरूप मोक्ष है । उस रत्नत्रय के अभाव में पाखंडी गण के वेषों में या गृहस्थवेषों में कोई कृतार्थता नहीं है ॥१८०॥

पाखंडिगणलिंगेषु गृहीलिंगेषु ये रताः ।
न ते समयसारस्य ज्ञातारो बालबुद्धयः ॥१८१॥

भावार्थ : जो पाखंडियों के नाना वेषों में या गृहस्थवेषों में आसक्त हैं, वे बालबुद्धि हैं, समयसार (सिद्धान्त के तत्त्व) के जानकार नहीं हैं ॥१८१॥

भावलिंगरता ये स्युः सर्वसारविदो हि ते ।
लिंगस्था वा गृहस्था वा सिध्यन्ति धूतकल्मषाः ॥१८२॥

भावार्थ : जो भावलिंग में रहते हैं, वे सर्वसार के ज्ञाता हैं, इसलिए वे साधुवेष में हों, या गृहस्थ-वेष में हों, फिर भी वे पाप का क्षय करके सिद्धिपद प्राप्त करते हैं ॥१८२॥

भावलिंगं हि मोक्षांगं द्रव्यलिंगमकारणम् ।
द्रव्यं नात्यन्तिकं यस्मान्नाप्येकान्तिकमिष्यते ॥१८३॥

भावार्थ : भावलिंग ही मोक्ष का अंग (कारण) है, द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि द्रव्य आत्यन्तिक अभीष्ट नहीं है, और न ही ऐकान्तिक अभीष्ट है ॥१८३॥

यथाजातदशालिंगमर्थादव्यभिचारि चेत् ।
विपक्षबाधकाभावात्तद्धेतुत्वे तु का प्रमा ? ॥१८४॥

भावार्थ : जिस प्रकार से जन्म हुआ, वैसी दशारूप वेष मोक्षरूपी अर्थ से अव्यभिचारी है, यदि ऐसा कहते हों तो विपक्षबाधक का अभाव होने से मृग आदि भी यथाजात (नग्न) दशा में रहते हैं, उनका भी मोक्ष होने लगेगा और सभी नग्नों का यदि मोक्ष इष्ट नहीं है, तो उस नग्नत्व को मोक्ष का कारण कहने में क्या प्रमाण है? ॥१८४॥

वस्त्रादिधारेणच्छा चेद् बाधिका तस्य तां विना ।
धृतस्य किमवस्थाने करादेरिव बाधकम् ॥१८५॥

भावार्थ : यदि वस्त्रादि धारण करने की इच्छा मोक्ष में बाधक है, तो उसकी (वस्त्र की) इच्छा के बिना ही हाथ इत्यादि की तरह धारण किए हुए वस्त्रादि के होने में क्या बाधा है ? ॥१८५॥

स्वरूपेण च वस्त्रं चेत्केवलज्ञानबाधकम् ।
तदा दिक्पटनीत्यैव तत्तदावरणं भवेत् ॥१८६॥

भावार्थ : यदि वस्त्र स्वरूप से ही केवलज्ञान में बाधक हैं तो दिगम्बर मत के अनुसार केवलज्ञानावरणीय के समान वस्त्रावरण भी होना चाहिए ॥१८६॥

इत्थं केवलिनस्तेन मूर्ध्नि क्षिप्तेन केनचित् ।
केवलित्वं पलायेतेत्यहो किमसमञ्जसम् ॥१८७॥

भावार्थ : ऐसा होने पर तो केवली के मस्तक पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल दे तो उनका केवलज्ञान नष्ट हो (भाग) जाना चाहिए, यह कैसा असमंजसपूर्ण (अयोग्य, अटपटा) कथन है? ॥१८७॥

भावलिंगात् ततो मोक्षो, भिन्नलिंगेष्वपि ध्रुवः ।
कदा ग्रहं विमुच्यैतद् भावनीयं मनस्विना ॥१८८॥

भावार्थ : इसलिए भिन्नलिंग वाले होने पर भी भावलिंग से अवश्य मोक्ष है। अतः कदाग्रह छोड़कर मनस्वी पुरुष को इस पर भलीभाँति विचार करना चाहिए ॥१८८॥

अशुद्धनयतो ह्यात्मा बद्धो मुक्त इति स्थितिः ।
न शुद्धनयतस्त्वेष बद्ध्यते नाऽपि मुच्यते ॥१८९॥

भावार्थ : अशुद्ध नय की दृष्टि से आत्मा बद्ध और मुक्त होती है, परन्तु शुद्ध नय से तो आत्मा का बन्ध और मोक्ष भी नहीं होता ॥१८९॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मतत्वविनिश्चयम् ।
नवेभ्योऽपि हि तत्त्वेभ्यः कुर्यादेवं विचक्षणः ॥१९०॥

भावार्थ : इस प्रकार विचक्षण पुरुष को नौ तत्वों से अन्वय और व्यतिरेक द्वारा आत्मतत्व का निश्चय करना चाहिए ॥१९०॥

इदं हि परमाध्यात्मममृतं ह्यद एव च ।
इदं हि परमं ज्ञानं योगोऽयं परमः स्मृतः ॥१९१॥

भावार्थ : यही उत्कृष्ट अध्यात्म है, यही अमृत है, यही उत्कृष्ट ज्ञान है और यही परम योग कहलाता है ॥१९१॥

गुह्यात् गुह्यतरम् तत्त्वमेतत्सूक्ष्मनयाश्रितम् ।
न देयं स्वल्पबुद्धीनां ते ह्येतस्य विडम्बकाः ॥१९२॥

भावार्थ : यह गुह्य (रहस्यमय) से गुह्यतर (अधिक रहस्यमय) तत्व सूक्ष्मनय के आश्रित है । इसलिए अल्पबुद्धि वालों को यह तत्त्व देने योग्य नहीं है । क्योंकि वे (प्रायः) इसकी विडम्बना करने वाले होते हैं ॥१९२॥

जनानामल्पबुद्धीनां नैतत्तत्वं हितावहम् ।
निर्बलानां क्षुधार्त्तानां भोजनं चक्रिणो यथा ॥१९३॥

भावार्थ : जैसे दुर्बल क्षुधातुर व्यक्तियों के लिए चक्रवर्त्ती का गरिष्ठ भोजन हितकर नहीं होता, वैसे ही अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को यह आत्मतत्त्व हितकारी नहीं होता ॥१९३॥

ज्ञानांशदुर्विदग्धस्य तत्त्वमेतदनर्थकृत् ।
अशुद्धमंत्रपाठस्य फणिरत्नग्रहो यथा ॥१९४॥

भावार्थ : जैसे अशुद्धमंत्रपाठ करने वाले को शेषनाग का रत्न ग्रहण करना अनर्थकारी होता है, वैसे ही ज्ञान का अंश पाकर अपने को महाविद्वान् मानने वालों के लिए यह तत्त्व अनर्थकारी होता है ॥१९४॥

व्यवहाराविनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम् ।
कासारतरणाशक्तः स तितीर्षति सागरम्॥१९५॥

भावार्थ : जो पुरुष व्यवहार नय में कुशल नहीं है, वह अगर निश्चय नय को जानना चाहता है तो वह उसी तरह है, जिस तरह छोटे से तालाब को पार करने में असमर्थ कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहता हो ॥१९५॥

व्यवहारं विनिश्चित्य ततः शुद्धनयाश्रितः ।
आत्मज्ञानरतो भूत्वा परमं साम्यमाश्रयेत् ॥१९६॥

भावार्थ : इसलिए शुद्धनय का आश्रय लेने वाले पुरुष को पहले व्यवहार का निश्चय करके तदनन्तर आत्मज्ञान में रत होकर उत्कृष्ट समता को प्राप्त करना चाहिए ॥१९६॥

॥ इति आत्मविनिश्चयाधिकारः ॥

अधिकार उन्नीसवाँ

[जिनमत-स्तुति]

उत्सर्पद्व्यवहार-निश्चयकथा-कल्लोलकोलाहल-
त्रस्यद्दुर्नयवादि-कच्छपकुल-भ्रश्यत्कुपक्षाचलम् ॥
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभगं स्याद्वादमर्यादया ।
युक्तं श्रीजिनशासनं जलनिधिं मुक्त्वा परं नाश्रये ॥१॥

भावार्थ : व्यवहार और निश्चयकथारूपी उछलती हुई तरंगों के कोलाहल से दुःखी होते हुए दुर्नय (एकान्त) वादी-रूपी कछुओं का झुंड है। जिसमें कुपक्षरूपी पर्वत गिर रहे हैं, और अकाट्य युक्तियोंरूपी नदियों के प्रवेश से मनोहर है, तथा स्याद्वाद की मर्यादा से युक्त है, ऐसे जिनशासनरूपी महासमुद्र को छोड़कर मैं दूसरे किसी का आश्रय नहीं लेता ॥१॥

पूर्णः पुण्यनयप्रमाणरचनापुष्पैः सदास्थारसैस्‌ः ।
तत्त्वज्ञानफलः सदा विजयते स्याद्वादकल्पद्रुमः ॥
एतस्मात्पतितैः प्रवादकुसुमैः षड्दर्शनारामभूः
भूयः सौरभमुद्वमत्यभिमतैरध्यात्मवार्तालवैः ॥२॥

भावार्थ : सम्यक् आस्थारूपी पवित्र नयों और प्रमाणों की रचनारूप पुष्पों से जो परिपूर्ण है, जिसके तत्त्वज्ञानरूपी

फल हैं, ऐसा स्याद्‌वादरूपी कल्पवृक्ष सदा विजयी होता है। उसके ऊपर से गिरे हुए अभीष्ट और अध्यात्मरूपी छोटी-छोटी बातों वाले प्रवादरूपी पुष्पों से षड्‌दर्शनरूपी उपवन की भूमि अत्यन्त सौरभ फैला रही है ॥२॥

चित्रोत्सर्गशुभापवादरचनासानुश्रियालंकृतः ।
श्रद्धानन्दनचन्दनद्रुमनिभप्रज्ञोल्लसत्सौरभः ॥
भ्राम्यद्‌भिः परदर्शनग्रहगणैरासेव्यमानः सदा ।
तर्कस्वर्णशिलोच्छ्रितो विजयते जैनागमो मन्दरः ॥३॥

भावार्थ : अनेक प्रकार के उत्सर्ग और शुभ अपवादमार्ग की रचनारूपी शिखरों की शोभा से जो अलंकृत है। श्रद्धारूपी नन्दनवन के चन्दनतरुओं के सदृश बुद्धि से जिसमें सुगन्ध फैल रही है। परिभ्रमण करते हुए परदर्शनरूपी ग्रहगणों के द्वारा जो निरन्तर सेवित है और तर्करूपी स्वर्णशिलाओं से जो अति उन्नत है, ऐसा जिनामगरूपी मेरुपर्वत विजयी हो ॥३॥

स्याद्दोषापगमस्तमांसि जगति क्षीयन्त एव क्षणा-
दध्वानो विशदीभवन्ति निबडा निद्रा दृशोर्गच्छति ॥
यस्मिन्नभ्युदिते प्रमाण दिवसप्रारम्भकल्याणिनी ।
प्रौढत्वं नयगीर्दधाति स रविर्जैनागमो नन्दतात् ॥४॥

भावार्थ : जिसका उदय होने से जगत् में मोहरूपी रात्रि का नाश हो जाता है और पृथ्वी पर सर्वत्र अज्ञानरूपी अन्धकार

क्षणभर में क्षीण हो जाता है तथा उससे मार्ग निर्मल (स्वच्छ) हो जाते हैं, नेत्रों से गाढ़ निद्रा दूर हो जाती है। प्रमाणरूपी दिवस के प्रारम्भ होने पर कल्याणकारिणी नयवाणी प्रौढ़ता धारण करती है। वह जैनागमरूपी सूर्य समृद्ध हो ॥४॥

अध्यात्मामृतवर्षिभिः कुवलयोल्लासं विलासैर्गवां ।
तापव्यापर्विनाशिभिर्वितनुते लब्धोदयो यः सदा ॥
तर्कस्थाणुशिरः स्थितः परिवृत्तः स्फारैर्नयैस्तारकैः ।
सोऽयं श्रीजिनशासनामृतरुचिः कस्यैति नो रुच्यताम् ॥५॥

भावार्थ : जैनागमरूपी चन्द्रमा सदा उदय होकर अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करता है तथा ताप (धूप) के प्रसार (संचार) को नाश करने वाले वाणी के विलास से पृथ्वी के मंडल (कमल) को उल्लसित (विकसित) करता है। जो तर्करूपी शंकर के मस्तक पर स्थित है। तथा जो देदीप्यमान नयरूपी तारों से घिरा हुआ है। ऐसा जिनशासनरूपी चन्द्रमा किसे रुचिकर नहीं होता ? ॥५॥

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात् ।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः ॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता ।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥६॥

भावार्थ : बौद्धदर्शन ऋजुसूत्रनय से हुआ है, वेदान्तियों का दर्शन संग्रहनय के आश्रित हुआ है, सांख्यदर्शन भी

संग्रहनय से ही हुआ है। योग और वैशेषिक दर्शन नैगमनय से हुए हैं। तथा शब्द को ही ब्रह्म मानने वाले मीमांसकों का दर्शन शब्दनय से हुआ है। परन्तु जैनदर्शन तो सभी नयों से गुम्फित है। इस कारण जैनदर्शन की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है ॥६॥

उष्मा नार्कमपाकरोति दहनं नैव स्फुलिंगावली ।
नाब्धिं सिन्धुजलप्लवः सुरगिरिं ग्रावा न चाभ्यापतन् ॥
एवं सर्वनयैकभावगरिमस्थानं जिनेन्द्रागमम् ।
तत्तद्दर्शन संकथांशरचनारूपा न हन्तुं क्षमा ॥७॥

भावार्थ : जिस प्रकार घाम सूर्य को दूर नहीं कर सकता, आग की चिन्गारियाँ अग्नि को हटा नही सकतीं, नदी के पानी की बाढ़ समुद्र को दूर नहीं हटा सकती, सामने गिरता हुआ पाषाणखण्ड मेरुपर्वत को डिगा नहीं सकता, इसी प्रकार समस्तनयों के अद्वितीयभाव के महास्थानरूप जिनेन्द्रागम को उस-उस दर्शन (परदर्शन) का आंशिक रचनारूप कथन पराभूत (पराजित) करने में समर्थ नहीं है ॥७॥

दुःसाध्यं परवादिनां परमतक्षेपं विना स्वं मतं,
तत्क्षेपे च कषायपंककलुषं चेतः समापद्यते ॥
सोऽयं निःस्वनिधिग्रहव्यवसितो वेतालकोपक्रमो,
नाऽयं सर्वहितावहे जिनमते तत्त्वप्रसिद्ध्यर्थिनाम् ॥८॥

भावार्थ : परवादियों (अन्यदर्शनियों) के लिए दूसरे के मत पर आक्षेप (खण्डन, तिरस्कार) किये बिना अपने मत को सिद्ध करना दुष्कर है। और उस तिरस्कार से चित्त कषायरूपी कीचड़ से मलिन होता है। अतः यह व्यापार निर्धन के खजाने को ग्रहण करने में उद्यत वेताल के क्रोध सा उपक्रम है। ऐसा कदम (उपक्रम) तत्त्व के जिज्ञासार्थियों के लिए सर्व–हितकारी जैनदर्शन में नहीं है ॥८॥

वार्ताः सन्ति सहस्त्रशः प्रतिमतं ज्ञानांशबद्धक्रमाश्
चेतस्तासु न नः प्रयाति नितरां लीनं जिनेन्द्रागमे ।
नोत्सर्पन्ति लताः कति प्रतिदिशं पुष्पैः पवित्रा मधौ,
ताभ्यो नैति रतिं रसालकलिकारक्तस्तु पुंस्कोकिलः ॥९॥

भावार्थ : प्रत्येक दर्शन में ज्ञान के अलग–अलग अंश से क्रमबद्ध हजारों बातें हैं। फिर भी जिनेश्वर के आगम में अत्यन्त लीन हुआ हमारा मन उन बातों की ओर जाता ही नहीं। क्या वसन्तऋतु में प्रत्येक दिशा में फूलों से पवित्र (सुशोभित) कई लताएँ नहीं दिखती ? बहुत–सी दिखती हैं, तथापि आम की मंजरी में आसक्त बना हुआ नरकोयल उन (अन्य) लताओं पर रति (प्रीति) नहीं करता ॥९॥

शब्दो वा मतिरर्थ एव वसु वा जातिः क्रिया वा गुणः ।
शब्दार्थः किमिति स्थिता प्रतिमत सन्देहशंकुव्यथा ॥

जैनेन्द्रे तु मते न सा प्रतिपद जात्यन्तराथस्थिते: ।
सामान्यं च विशेषमेव च यथा तात्पर्यमन्विच्छति ।।१०।।

भावार्थ : क्या आत्मा शब्दरूप है? क्या वह बुद्धिरूप है? या वह जातिरूप है, क्रियारूप है अथवा गुणरूप है? क्या वह शब्दार्थरूप है? इस प्रकार प्रत्येक मत (दर्शन) में संदेहरूपी कील की पीड़ा विद्यमान है । किन्तु जैनेन्द्रमत (दर्शन) में तो प्रत्येक पद में जात्यन्तर का अर्थ होने से उस प्रकार की संदेहव्यथा है ही नहीं; क्योंकि वह सामान्य और विशेष को तात्पर्य के अनुसार स्पष्टरूप से ढूँढ लेता है ।।१०।।

यत्रानर्पितमादधाति गुणतां मुख्यं च वस्त्वर्पितं,
तात्पर्यानवलम्बनेन तु भवेद् बोध: स्फुटं लौकिक: ।।
संपूर्णं त्ववभासते कृतधियां कृत्स्नाद् विवक्षाक्रमात् ।
तां लोकोत्तरभंगपद्धतिमयीं स्याद्वादमुद्रां स्तुम: ।।११।।

भावार्थ : जिसमें अनर्पित वस्तु गौणत्व को और अर्पित वस्तु मुख्यत्व को प्राप्त करती है तथा तात्पर्य का अवलम्बन लिये बिना ही (वस्तु का) लौकिक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है । कुशल बुद्धिमान पुरुषों को समग्र विवक्षा (कहने की इच्छा) के क्रम से सम्पूर्ण वस्तु प्रतिभासित हो जाती है । उस लोकोत्तर भंग (अलौकिक विकल्परचना) की पद्धति से युक्त स्याद्वादमुद्रा की हम स्तुति करते हैं ।।११।।

आत्मीयानुभवाश्रयार्थविषयोऽप्युच्चैर्यदीयः क्रमः ।
म्लेच्छनामिव संस्कृतं तनुधियामाश्चर्यमोहावहः ॥
व्युत्पत्ति-प्रतिपत्तिहेतुविततस्याद्वादवाग्गुम्फितम् ।
तं जैनागममाकलय्य न वयं व्याक्षेपभाजः क्वचित् ॥१२॥

भावार्थ : अपने अनुभव का आश्रय ही जिसके अर्थ का विषय है, जो जिनागम का उच्चक्रम है, वह म्लेच्छों के लिए संस्कृत भाषा की तरह अल्पबुद्धि वालों के लिए आश्चर्य तथा मोह उत्पन्न करने वाला है । व्युत्पत्ति, प्रतिपत्ति तथा हेतुओं से विस्तृत स्याद्वाद की वाणी से रचित जिनागम को भलीभांति हृदयंगम करके हम कहीं पर भी आक्षेप के भाजन (तिरस्कार के पात्र) नहीं होते ॥१२॥

मूलं सर्ववचोगतस्य विदितं जैनेश्वरं शासनम् ।
तस्मादेव समुत्थितैर्नयमतैस्तस्यैव यत्खण्डनम् ॥
एतत् किंचन कौशलं कलिमलच्छन्नात्मनः स्वाश्रितां ।
शाखां छेत्तुमिवोद्यतस्य कटुकोदर्काय तर्कार्थिनः ॥१३॥

भावार्थ : समस्त वचनों के अभिप्राय का मूल यह जिनशासन सुविदित (सुप्रसिद्ध) है । इस जिनशासन से ही उत्पन्न नय के मतों से उसी का खण्डन करना अपनी ही आधाररूप शाखा को काटने को उद्यत हुए मनुष्य की तरह है । पापमल से आच्छादित हुए तर्कार्थियों की तुच्छ कुशलता उन्हीं के लिए कटु परिणाम लाने वाली है ॥१३॥

त्यक्तोन्माद-विभज्यवादरचनामाकर्ण्य कर्णामृतम् ।
सिद्धांतार्थरहस्यवित् क्व लभतामन्यत्र शास्त्रे रतिम् ॥
यस्यां सर्वनया विशन्ति न पुनर्व्यस्तेषु तेष्वेव या ।
मालायं मणयो लुठन्ति न पुनर्व्यस्तेषु मालाऽपि सा ॥१४॥

भावार्थ : उन्माद का त्याग करके विभाग करने योग्य (अनेकान्त) वाद की रचनारूप कर्णामृत का श्रवण करके सिद्धान्त-प्रतिपादित अर्थ का रहस्यज्ञ पुरुष अन्य किस शास्त्र में प्रीति सम्पादन कर सकता है? जिस रचना में सभी नय का प्रवेश है, किन्तु वे नय अलग-अलग हों तो उन बिखरे हुए नयों में वह रचना नहीं होती । जैसे माला में मणियाँ होती हैं, लेकिन वे मणियाँ बिखरी हुई अलग-अलग हों तो उनमें माला नहीं होती ॥१४॥

अन्योऽन्यप्रतिपक्षभाववितथान् स्वस्वार्थसत्यान्नयान् ।
नापेक्षा विषमाग्रहैर्विभजते माध्यस्थ्यमास्थाय यः ॥
स्याद्वादे सुपथे निवेश्य हरते तेषां नु दिङ्मूढताम् ।
कुन्देन्दुप्रतिमं यशो विजयिनस्तस्यैव संवर्धते ॥१५॥

भावार्थ : परस्पर शत्रु (विरोध) भाव के कारण असत्य और अपने-अपने अर्थ में सत्य नयों का जो पुरुष अपेक्षा-विषयक आग्रह से माध्यस्थ्यभाव का आश्रय लेकर विभाग कर (छाँट) लेता है, तथा जो स्याद्वादरूपी सुमार्ग पर चित्त को

जमाकर उन नयों की दिङ्मूढता को नष्ट कर देता है, उसी विजयी पुरुष का कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश बढ़ता है ॥१५॥

॥ इति जिनमत-स्तुत्यधिकारः ॥

• • •

अधिकार बीसवाँ

[अनुभव-स्वरूप]

शास्त्रोपदर्शितदिशा गलितासद्ग्रहकषायकलुषाणाम् ।
प्रियमनुभवैकवेद्यं रहस्यमाविर्भवति किमपि ॥१॥

भावार्थ : शास्त्र में बताई हुई दिशा से जिनके असद्ग्रह, कषाय और कालुष्य (रागद्वेष) नष्ट हो गए हैं, उन पुरुषों को अनुभव से ही जाना जा सके, ऐसा कुछ इष्ट रहस्य प्रगट हो जाता है ॥१॥

प्रथमाभ्यासविलासादाविर्भूयैव यत्क्षणाल्लीनम् ।
चंचत्तरुणीविभ्रमसममुत्तरलं मनः कुरुते ॥२॥

भावार्थ : जो रहस्य प्रथम अभ्यास के विलास से प्रकट होकर क्षणभर में तल्लीन हुए मन को युवती स्त्री के मनोहर विलास के समान अत्यन्त आतुरता वाला बना देता है ॥२॥

सुविदितयोगैरिष्टं क्षिप्तं मूढं तथैव विक्षिप्तम् ।
एकाग्रं च निरुद्धं चेतः पञ्चप्रकारमिति ॥३॥

भावार्थ : जिन्होंने योग के स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया है, उन योगियों ने ५ प्रकार का मन बताया है— (१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध ॥३॥

विषयेषु कल्पितेषु च पुरः स्थितेषु च निवेशितं रजसा ।
सुख–दुःखयुग्बहिर्मुखमाम्नातं क्षिप्तमिह चित्तम् ।।४।।

भावार्थ : कल्पित और सामने विद्यमान विषयों में राग के स्थापित हुए, सुख और दुःख से युक्त तथा अध्यात्म से बहिर्मुख चित्त को क्षिप्त कहते हैं ।।४।।

क्रोधादिभिर्नियमितं विरुद्धकृत्येषु यत्तमोभूम्ना ।
कृत्याकृत्यविभागासंगतमेतन्मनो मूढम् ।।५।।

भावार्थ : जो मन तमोगुण के बाहुल्य से विरुद्ध कार्यों में क्रोधादि से नियमित तथा कृत्य–अकृत्य के विभाग (विवेक) से रहित है, वह मन मूढ़ कहलाता है ।।५।।

सत्वोद्रेकात् परिहृतदुःखनिदानेषु सुखनिदानेषु ।
शब्दादिषु प्रवृत्तं सदैव चित्तं तु विक्षिप्तम् ।।६।।

भावार्थ : सत्वगुण की अधिकता के कारण दुख के मूल कारणों से रहित और शब्दादि सुख के मूल कारणों में निरन्तर प्रवृत्त हुआ चित्त विक्षिप्त कहलाता है ।।६।।

अद्वेषादिगुणवतां नित्य खेदादिदोष परिहारात् ।
सदृशप्रत्ययसंगतमेकाग्रं चित्तमाम्नातम् ।।७।।

भावार्थ : अद्वेष आदि गुणवाला, निरन्तर खेद आदि दोषों के त्याग से समान परिणाम को प्राप्त जो मन है, उसे एकाग्र कहा गया है ।।७।।

उपरतविकल्पवृत्तिकमवग्रहादिक्रमच्युतं शुद्धम् ।
आत्मारामसुनीनां भवति निरुद्धं सदा चेतः ॥८॥

भावार्थ : जिस मन से विकल्प की वृत्तियाँ शान्त हो गई हैं, जो अवग्रहादि (प्रतिबन्ध आदि) के क्रम से पृथक् है, ऐसा आत्माराम मुनियों का सदा उज्ज्वल चित्त निरुद्ध कहलाता है ॥८॥

न समाधावुपयोगं तिस्रश्चेतोदशा इह लभन्ते ।
सत्त्वोत्कर्षात् स्थैर्यादुभे समाधिसुखातिशयात् ॥९॥

भावार्थ : इस समाधि में चित्त की पहली तीन अवस्थाएँ उपयोग में नहीं आतीं, परन्तु सत्व के उत्कर्ष के कारण, स्थैर्य के कारण, तथा अतिशय सुख के कारण चित्त की अन्तिम दो अवस्थाएँ उपयोग में आती हैं ॥९॥

योगारम्भमस्तु भवेद्विक्षिप्ते मनसि जातु सानन्दे ।
क्षिप्ते मूढे चास्मिन् व्युत्थानं भवति नियमेन ॥१०॥

भावार्थ : विक्षिप्त मन कदाचित् आनन्दयुक्त होने से उसमें योग का आरम्भ हो सकता है; परन्तु क्षिप्त और मूढ़ मन तो इसमें अवश्य ही व्युत्थानरूप होते हैं ॥१०॥

विषयकषायनिवृत्तं योगेषु च संचरिष्णुविविधेषु ।
गृहखेलद्बालोपमपि चलमिष्टं मनोऽभ्यासे ॥११॥

भावार्थ : विषयों और कषायों से निवृत्त, विविध प्रकार के योगों में गमन करने वाला, और घर के आँगन में क्रीड़ा

करते हुए बालक के समान चपल मन हो तो वह अभ्यासदशा में इष्ट है ॥११॥

वचनानुष्ठानगतं यातायातं च सातिचारमपि ।
चेतोऽभ्यासदशायां गजांकुशन्यायतोऽदुष्टम् ॥१२॥

भावार्थ : वचनानुष्ठान में स्थित मन यद्यपि गमनागमन करते समय अतिचार–सहित होता है, फिर भी अभ्यासदशा में गजांकुशन्याय (दृष्टान्त) के अनुसार अदूषित है ॥१२॥

ज्ञानाविचाराभिमुखं यथा यथा भवति किमपि सानन्दम् ।
अर्थैः प्रलोभ्य बाह्यैरनुगृण्हीयात्तथा चेतः ॥१३॥

भावार्थ : जैसे–जैसे चित्त कुछ (धर्मकार्य में) आनन्दयुक्त और ज्ञान तथा विचार के सम्मुख होता जाय, वैसे–वैसे बाह्य पदार्थों से उसे प्रलोभन देकर वश करना चाहिए ॥१३॥

अभिरूपजिनप्रतिमां विशिष्टपदवर्णवाक्यरचनां च ।
पुरुषविशेषादिकमप्यत एवाऽलम्बनं ब्रुवते ॥१४॥

भावार्थ : इसलिए सुन्दर जिनप्रतिमा, विशिष्ट पद, वर्ण और वाक्यरचना को तथा विशिष्ट प्रकार के पुरुषादि को भी आलम्बनभूत कहे गए हैं ॥१४॥

आलम्बनैः प्रशस्तैः प्रायो भावः प्रशस्त एव यतः ।
इति सालम्बनयोगी मनः शुभालम्बनं दध्यात् ॥१५॥

भावार्थ : इसलिए प्रशस्त आलम्बनों से प्रायः प्रशस्तभाव ही होते हैं। इस आलम्बन के अभिलाषी योगी को अपना मन शुभ आलम्बन में जोड़ना चाहिए ॥१५॥

सालम्बनं क्षणमपि क्षणमपि कुर्यान्मनो निरालम्बम् ।
इत्यनुभवपरिपाकादाकालं स्यान्निरालम्बम् ॥१६॥

भावार्थ : मन को क्षण में सालम्बन (शुभ आश्रय से युक्त) करना और क्षण भर में आलम्बनरहित करना चाहिए। यों करते-करते अनुभव का परिपाक हो जाने पर आजीवन (सदा के लिए) मन निरालम्बन (आलम्बन-रहित) हो जाता है ॥१६॥

आलम्ब्यैकपदार्थं यदा न किंचिद् विचिन्तयेदन्यत् ।
अनुपनतेन्धनवन्हिवदुपशान्त स्यात्तदा चेतः ॥१७॥

भावार्थ : जब मन एक पदार्थ का आलम्बन लेकर उसके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन न करे, तब उस अग्नि की तरह शान्त हो जाता है, जिसे इन्धन नहीं मिलता ॥१७॥

शोक-मद-मदन-मत्सर-कलह-कदाग्रह-विषाद-वैराणि ।
क्षीयन्ते शान्तहृदामनुभव एवात्र साक्षी नः ॥१८॥

भावार्थ : शान्त हृदय वालों के शोक, मद, काम, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैर ये सब क्षीण हो जाते हैं, शमयुक्त चित्त वालों के शोक (इष्टवियोगादि से उत्पन्न चित्त का उद्वेग अथवा पश्चात्ताप) जाति आदि ८ प्रकार के मद,

कामविकार, मत्सर (डाह, ईर्ष्या=दूसरे के गुणों को न सहना), कलह (वाग्युद्ध, झगड़ा), कदाग्रह (मिथ्या आग्रह) विषाद (कार्य करने की अशक्ति) और वैर (विरोध द्वेष) ये सब क्षीण हो जाते हैं। शान्तिचित्त व्यक्तियों के शोकादि का नाश होने में हमारा अनुभव ही, यानी प्रकट हुई गुणसम्पत्ति का साक्षात् दर्शन करने वाली हमारी बुद्धि ही साक्षीभूत है, अर्थात् उसे साक्षात् देखने वाली है ॥१८॥

शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते, शान्तमात्मनः सहजम् ।
भस्मीभवत्यविद्या मोहध्वान्त विलयमेति ॥१९॥

भावार्थ : मन शान्त हो जाने पर आत्मा की स्वाभाविक और शान्त ज्योति प्रकाशित होती है, अविद्या भस्मीभूत हो जाती है और मोहरूपी अन्धकार का सर्वथा विनाश हो जाता है ॥१९॥

बाह्यात्मनोऽधिकारः शान्तहृदामन्तरात्मनां न स्यात् ।
परमात्माऽनुध्येयः सन्निहितो ध्यानतो भवति ॥२०॥

भावार्थ : शान्त हृदय वाली अन्तरात्माओं के बाह्य आत्मा का अधिकार नहीं होता और ध्यान करने योग्य परमात्मा ध्यान से उसके समीपवर्त्ती हो जाता है ॥२०॥

कायादिर्बहिरात्मा तदधिष्ठातान्तरात्मतामेति ।
गतनिःशेषोपाधिः परमात्मा कीर्त्तितस्तज्ज्ञैः ॥२१॥

भावार्थ : शरीरादि बहिरात्मा हैं, उनका अधिष्ठाता अन्तरात्मा को प्राप्त करता है तथा समग्र उपाधि से रहित जो आत्मा है, उसे ही ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है ॥२१॥

विषयकषायावेशः तत्त्वाऽश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः ।
आत्माऽज्ञानं च यदा, बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥२२॥

भावार्थ : जब विषयों और कषायों का आवेश होता हो, तत्त्व के प्रति अश्रद्धा हो, गुणों के प्रति द्वेष हो और आत्मा के विषय में अज्ञानता हो तब स्पष्टतः समझना चाहिए कि वह बहिरात्मा है ॥२२॥

तत्वश्रद्धाज्ञानं महाव्रतान्यप्रमादपरता च ।
मोहजयश्च यदा स्यात्तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्तः ॥२३॥

भावार्थ : जब तत्त्व पर श्रद्धा हो, आत्मा का ज्ञान हो, महाव्रत हों, अप्रमादपरता हो तथा मोह पर विजय हो जाय तो स्पष्ट है कि वह अन्तरात्मा है ॥२३॥

ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महतिः ।
सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥२४॥

भावार्थ : जब केवलज्ञान, योग का निरोध, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय, सिद्धि=मुक्ति में निवास हो जाय, तब स्पष्टतः वह परमात्मा हो जाता है ॥२४॥

आत्ममनोगुणवृत्तीर्विविच्य यः प्रतिपदं विजानाति ।
कुशलानुबन्धयुक्त प्राप्नोति ब्रह्मभूयमसौ ॥२५॥

भावार्थ : जो पुरुष आत्मा और मन के गुणों की वृत्तियों का विश्लेषण करके उनके प्रत्येक पद (स्थान) को भलीभांति विशेष प्रकार से जान लेता है, वह कुशलानुबन्ध से युक्त होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है ॥२५॥

ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम् ।
ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासननुभवामः ॥२६॥

भावार्थ : ब्रह्म में स्थित ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करता है, इसमें क्या आश्चर्य है? किन्तु हमें तो ब्रह्मज्ञानियों के वचन से भी ब्रह्मविलास का अनुभव होता है । जो ब्रह्म अर्थात् परमात्मा में शुद्ध ज्ञानोपयोग में स्थित (ओतप्रोत) रहता है, तथा ब्रह्म (निर्विकार चैतन्य) को जानता है, वह ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) को प्राप्त करे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? कुछ भी आश्चर्य नहीं । ब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) के ज्ञाता (ब्रह्मज्ञानियों) के वचन से भी ब्रह्म के विलास (चिदानन्द के उल्लास) को हम अपनी बुद्धि से साक्षात् अनुभव करते हैं, प्रत्यक्ष जान सकते हैं ॥२६॥

ब्रह्माध्ययनेषु मतं ब्रह्माष्टदशसहस्त्रपदभावैः ।
येनाऽऽप्तं तत्पूर्णं योगी स ब्रह्मणः परमः ॥२७॥

भावार्थ : ब्रह्म के अध्ययन में १८ हजार पदों के भावों से युक्त ब्रह्म माना गया । जिस योगी ने उसे सम्पूर्ण रूप में प्राप्त कर लिया है, वह योगी ब्रह्म से परम (श्रेष्ठ) है ॥२७॥

अवलम्ब्येच्छायोगं पूर्णाचारासहिष्णवश्च वयम् ।
भक्त्या परममुनीनां तदीयपदवीमनुसरामः ॥२८॥

भावार्थ : पूर्ण आचार का पालन करने में असमर्थ हम इच्छायोग का अवलम्बन लेकर श्रेष्ठ मुनियों की भक्ति से उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं ॥२८॥

अल्पाऽपि याऽत्र यतना निर्दम्भा सा शुभानुबन्धकरी ।
अज्ञानविष-व्यवकृद् विवेचनं चात्मभावानाम् ॥२९॥

भावार्थ : इस इच्छायोग में जरा-सी भी दम्भरहित जो यतना है वह शुभानुबन्धकारिणी है तथा आत्मा के परिणाम का जो विवेचन है, वह अज्ञानरूपी विष का नाश करने वाला है ॥२९॥

सिद्धान्ततदंगानां शास्त्राणामस्तु परिचयः शक्त्या ।
परमालम्बनभूतो दर्शनपक्षोऽयमस्माकम् ॥३०॥

भावार्थ : शक्ति के अनुसार सिद्धांत और उनके अंग रूप शास्त्रों का परिचय हो, यह हमारा परम आलम्बनरूप दर्शन का पक्ष है ॥३०॥

विधिकथनं विधिरागो विधिमार्गे स्थापनं विधीच्छूनाम् ।
अविधिनिषेधश्चेति प्रवचनभक्तिः प्रसिद्धा नः ॥३१॥

भावार्थ : विधि का कथन करना, विधि के प्रति प्रीति, विधि के अभिलाषियों को विधिमार्ग में प्रवृत्त (स्थापित)

करना, अविधि का निषेध करना, इत्यादि प्रकार से हमारी प्रवचनभक्ति प्रसिद्ध है ॥३१॥

अध्यात्मभावनोज्ज्वलचेतोवृत्तोचितं हि नः कृत्यम् ।
पूर्णक्रियाभिलाषश्चेति द्वयमात्मशुद्धिकरम् ॥३२॥

भावार्थ : अध्यात्म की भावना से उज्ज्वल चित्तवृत्ति के योग्य हमारा कर्त्तव्य है तथा हमारी पूर्ण क्रिया करने की अभिलाषा है, ये दोनों बातें आत्मशुद्धि करने वाली हैं ॥३२॥

द्वयमिह शुभानुबन्धः शक्यारम्भश्च शुद्धपक्षश्च ।
अहितो विपर्ययः पुनरित्यनुभवसंगतः पन्थाः ॥३३॥

भावार्थ : शक्य क्रिया का आरम्भ और शुद्धपक्ष ये दोनों यहाँ शुभानुबन्धरूप हैं और इसके अतिरिक्त और कोई भी अहितकारक है, इस प्रकार हमारा अनुभवसिद्ध मार्ग है ॥३३॥

ये त्वनुभवाविनिश्चितमार्गाश्चारित्रपरिणतिभ्रष्टाः ।
बाह्यक्रियया चरणाभिमानो ज्ञानिनोऽपि न ते ॥३४॥

भावार्थ : जिन्होंने अनुभव से मार्ग का निश्चय नहीं किया है, अतएव चारित्र के परिणाम से भ्रष्ट होकर सिर्फ बाह्यक्रियाओं से ही चारित्र के अभिमान में डूबे हुए हैं, वे ज्ञानी नहीं हैं ॥३४॥

लोकेषु बहिर्बुद्धिषु विगोपकानां बहिःक्रियासु रतिः ।
श्रद्धां विना न चैताः सतां प्रमाणं यतोऽभिहितम् ॥३५॥

भावार्थ : बाह्यबुद्धि वाले लोगों में विदूषकों (अथवा दाम्भिकों) की बाह्य क्रियाओं के प्रति प्रीति होती है । ये बाह्यक्रियाएँ श्रद्धा के बिना सत्पुरुषों के लिए प्रमाणरूप नहीं हैं, क्योंकि उनके विषय में शास्त्र (तथा अन्य ग्रन्थों) में भी कहा है ॥३५॥

बालः पश्यति लिंगं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम् ।
आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्ष्यते सर्वयत्नेन ॥३६॥

भावार्थ : बाल (अज्ञानीजन) लिंग (वेष) को देखता है, मध्यमबुद्धि वाला मनुष्य आचरण पर विचार करता है, किन्तु पण्डितपुरुष समस्त प्रयत्न से आगमतत्व की ही परीक्षा करता है ॥३६॥

निश्चित्यागमतत्त्वं तस्मादुत्सृज्य लोकसंज्ञां च ।
श्रद्धाविवेकसारं यतितव्यं योगिनां नित्यम् ॥३७॥

भावार्थ : इस प्रकार आगमतत्व का निश्चय करके लोकसंज्ञा का परित्याग कर योगी को निरन्तर श्रद्धा और विवेक के लिए शुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए ॥३७॥

निन्द्यो न कोऽपि लोके, पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या ।
पूज्या गुणगरिमाढ्या, धार्यो रागो गुणलवेऽपि ॥३८॥

भावार्थ : योगीजन को लोक में किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए; पापियों के प्रति भी उनकी संसारस्थिति का

चिन्तन करना चाहिए, गुणों की गरिमा से पूर्ण पुरुषों की पूजा (सत्कार) करनी चाहिए, और जिसमें थोड़ा-सा भी गुण हो, उसके प्रति भी प्रेमभाव रखना चाहिए ॥३८॥

ग्राह्यं हितमपि बालादालापैर्दुर्जनस्य न द्वेष्यम् ।
व्यक्तव्या च पराशा पाशा इव संगमा ज्ञेयाः ॥३९॥

भावार्थ : बालक से भी हितकर बात को ग्रहण करना चाहिए, दुर्जन के प्रलापों पर द्वेषभाव नहीं करना चाहिए, पराई आशा का त्याग कर देना चाहिए और संगम=संयोग बन्धन (पाश) की तरह समझना चाहिए ॥३९॥

स्तुत्या स्मयो न कार्यः, कोपोऽपि च निन्दया जनैः कृतया ।
सेव्या धर्माचार्यास्तत्त्वं जिज्ञासानीयं च ॥४०॥

भावार्थ : दूसरे लोगों द्वारा की हुई अपनी स्तुति (प्रशंसा) सुनकर गर्व नहीं करना चाहिए, उनके द्वारा की गई निन्दा सुन कर क्रोध नहीं करना चाहिए धर्माचार्य की सेवा करनी चाहिए और तत्त्व को जानने की इच्छा रखनी चाहिए ॥४०॥

शौचं स्थैर्यमदम्भो वैराग्यं चात्मनिग्रहः कार्यः।
दृश्या भवगतदोषाश्चिन्त्यं देहाद्रिवैरुप्यम् ॥४१॥

भावार्थ : शौच, स्थिरता, अदम्भ, वैराग्य, और आत्मनिग्रह करना चाहिए । संसारगत दोषों पर चिन्तन करना चाहिए और शरीर आदि की विरूपता-विनाशिता का विचार करना चाहिए ॥४१॥

भक्तिर्भगवति धार्या, सेव्यो देशः सदा विविक्तश्च ।
स्थातव्यं सम्यक्त्वे, विश्वस्यो न प्रमादरिपुः ॥४२॥

भावार्थ : भगवान् जिनेश्वर के प्रति भक्ति रखना, सदा एकान्तप्रदेश (स्थान) का सेवन करना, अपने सम्यक्त्व पर दृढ़ रहना और प्रमादरूपी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए ॥४२॥

ध्येयाऽऽत्मबोधनिष्ठा, सर्वत्रैवागमः पुरस्कार्यः ।
त्यक्तव्याः कुविकल्पाः स्थेयं वृद्धानुवृत्या च ॥४३॥

भावार्थ : आत्मज्ञान की निष्ठा का ध्यान करना चाहिए, सर्वत्र आगम को आगे रखना चाहिए, कुविकल्पों का त्यागकर देना चाहिए और वृद्धजनों की अनुवृत्ति से रहना चाहिए ॥४३॥

साक्षात्कार्यं तत्त्वं चिद्रूपानन्दमेदुरैर्भाव्यम् ।
हितकारी ज्ञानवतामनुभववेद्यः प्रकारोऽयम् ॥४४॥

भावार्थ : तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए। चिदानन्द से परिपूर्ण होना चाहिए, यह अनुभव से जानने योग्य प्रकार ज्ञानियों के लिए हितकारी है ॥४४॥

॥ इत्यनुभवस्वरूपाधिकारः ॥

• • •

अधिकार इक्कीसवाँ

[सज्जन-स्तुतिः]

येषां कैरव-कुन्दवृन्द-शशभृत्कर्पूरशुभ्रा गुणा,
मालिन्यं व्यपनीय चेतसि नृणां वैशद्यमातन्वते ।
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नमनसस्ते केऽपि गौणीकृत-
स्वार्था मुख्यपरोपकारविधयोऽत्युच्छृंखलैः किं खलैः ॥१॥

भावार्थ : श्वेत कमल, कुन्दपुष्प-समूह, चन्द्रमा और कपूर के समान जिनके उज्ज्वल गुण मुमुक्षुओं के चित्त की मलिनता को दूरकर स्वच्छता फैलाते हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थ को गौण कर दिया है और परोपकार के कार्यों (विधानों) को मुख्य कर दिया है, ऐसे कई सन्तपुरुष मुझ पर प्रसन्न चित्त वाले हों; फिर मुझे अत्यन्त अच्छृंखल दुर्जनों से क्या मतलब है? ॥१॥

ग्रन्थार्थान् प्रगुणीकरोति सुकविं यत्नेन तेषां प्रथा-
मातन्वन्ति कृपाकटाक्षलहरीलावण्यतः सज्जनाः ।
माकन्दद्रुममंजरीं वितनुते चित्रा मधुश्रीस्ततः ।
सौभाग्यं प्रथयन्ति पंचमचमत्कारेण पुंस्कोकिलाः ॥२॥

भावार्थ : सुकवि प्रौढ़ ग्रन्थों के अर्थों को प्रयत्नपूर्वक तैयार (सरल) करते हैं, परन्तु उनकी प्रसिद्धि तो सज्जन अपने कृपाकटाक्षरूपी लहरों से उत्पन्न वात्सल्यरूपी लावण्य से

बढ़ाते हैं (फैलाते हैं)। जैसे मनोहर विचित्र वसन्तश्री आम्रवृक्ष की मंजरी को फैलाती है, किन्तु उसके सौभाग्य को तो श्रेष्ठ कोयलें अपने पंचमस्वर के चमत्कार से सर्वत्र प्रसिद्ध करती हैं ॥२॥

दोषोल्लेखविषः खलाननबिलादुत्थाय कोपाज्ज्वलन्,
जिह्वाहिर्ननु कं गुणं न गुणिनां बालं क्षयं प्रापयेत् ।
न स्याच्चेत्प्रबलप्रभावभवनं, दिव्यौषधी सन्निधौ,
शास्त्रार्थोपनिषद्विदां शुभहृदां कारुण्यपुण्यप्रथा ॥३॥

भावार्थ : अगर शास्त्र के उपनिषद् (रहस्य) के जानकार और शुभ हृदय वाले पुरुषों की करुणा (कृपा) रूपी पुण्य की प्रसिद्धिरूप और प्रबल प्रभाव के स्थान वाली दिव्य औषधि पास में न हो तो दोष के उल्लेख (उच्चारण) रूपी विष वाला और कोप से जाज्वल्यमान जिह्वारूपी सर्प दुर्जन पुरुष के मुखरूपी बिल से निकलकर गुणीजनों के किस बढ़ते हुए गुण का क्षय (नाश) नहीं कर देता? सभी गुणों को क्षय कर डालता ॥३॥

उत्तानार्थगिरां स्वतोऽप्यवगमात् निःसारतां मेनिरे ।
गम्भीरार्थसमर्थने बत खलाः काठिन्यदोषं ददुः ।
तत्को नाम गुणोऽस्तु, कश्च सुकविः किं काव्यमित्यादिकां ।
स्थित्युच्छेदमतिं हरन्ति नियता दृष्टा व्यवस्थाः सताम् ॥४॥

भावार्थ : दुर्जनपुरुष सुगम अर्थ वाली वाणी को स्वतः समझ सकते हैं। लेकिन फिर भी उसे निःसार मानते हैं और

गम्भीर अर्थ कहने में कठिनता (मुश्किल होने) का दोष देते हैं । इस कारण ऐसा कौन-सा गुण हो? कौन-सा कवि हो? और कौन-सा काव्य हो? कि इस प्रकार की स्थिति का उच्छेद करने वाली बुद्धि का हरण सत्पुरुषों की देखी हुई नियत व्यवस्थाएँ कर लेती हैं ॥४॥

अध्यात्मामृतवर्षिणीमपि कथमापीय सन्तः सुखं,
गाहन्ते विषमुद्‌गिरन्ति तु खला वैषम्यमेतत्कुतः ।
नेदं वाद्‌भुतमिन्दुदीधितिपिबः प्रीताश्चकोरा भृशं
किं न स्युर्बत चक्रवाकतरुणास्त्वत्यन्तखेदातुराः ॥५॥

भावार्थ : अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करने वाली कथा का पान करके सत्पुरुष सुख पाते हैं और उसी कथा का पान करके दुर्जन लोग जहर उगलते हैं । इस प्रकार की विषमता कहाँ से आई? अथवा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि चन्द्रमा की किरणों का पान करके चकोर पक्षी अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, परन्तु उसी चन्द्र के उदय से जवान चक्रवाक का जोड़ा क्या खेदातुर नहीं होता? होता ही है ॥५॥

किञ्चित्साम्यमवेक्ष्य ये विदधते काचेन्द्रनीलाभिदां,
तेषां न प्रमदावहा तनुधिया गूढा कवीनां कृतिः ।
ये जानन्ति विशेषमप्यविषमे रेखोपरेखांशतो,
वस्तुन्यस्तु सतामितः कृतधियां तेषां महानुत्सवः ॥६॥

भावार्थ : जो लोग कुछ सदृशता देखकर कांच और इन्द्रनीलमणि में अभेद (अभिन्नता) प्रगट करते हैं, उन अल्पबुद्धि वालों को कवियों की गूढ़ कृति हर्ष प्रदान करने वाली नहीं होती। परन्तु जो विषमतारहित वस्तु में भी रेखा और उपरेखा के अंश से भी विशेषरूप से जानते हैं; उन कुशलबुद्धि वाले सत्पुरुषों को यह कृति महान् उत्सवरूप है ॥६॥

पूर्णाध्यात्मपदार्थसार्थघटना चेतश्चमत्कारिणी,
मोहाच्छन्नदृशां भवेत्तनुधियां, नो पंडितानामिव ।
काकुव्याकुलकामगर्वगहनप्रोद्दामवाक्चातुरी ।
कामिन्याः प्रसभं प्रमोदयति न ग्राम्यान् विदग्धानिव ॥७॥

भावार्थ : जिनकी आँखें मोह से ढकी हुई हैं, उन अल्पबुद्धि वालों के चित्त को सम्पूर्ण अध्यात्मपदार्थ-समूह की रचना पण्डितों की तरह चमत्कृत (चकाचौंध) करने वाली नहीं होतीं। कामिनी की काकुउक्ति (वक्रोक्ति) से व्याकुल, काम के गर्व से गहन, और अतिप्रबल वाणी की चातुरी चतुर (विद्वान) पुरुषों की तरह ग्राम्यजनों को प्रमुदित नहीं करती ॥७॥

स्नात्वा सिद्धान्तकुण्डे विधुकरविशदाध्यात्मपानीयपूरैः,
तापं संसारदुःखं कलिकलुषमलं लोभतृष्णां च हित्वा ।
जाता ये शुद्धरूपाः शमदमशुचिताचन्दनालिप्तगात्राः ।
शीलालंकारसाराः सकलगुणनिधीन् सज्जनांस्तान्नमामः ॥८॥

भावार्थ : सिद्धान्तरूपी कुण्ड में चन्द्रकिरणों की तरह निर्मल अध्यात्मजल के पूर से स्नान करके सन्ताप का, संसार के दुःख का, क्लेश और पापमल का एवं लोभरूपी तृषा का त्याग करके जो शुद्धरूप हो गए हैं, शम, दम और पवित्रतारूपी चन्दन से जिन्होंने अपने शरीर पर लेपन कर लिया है तथा शीलरूपी आभूषण से जो सारभूत हो गए हैं, वैसे समग्र गुणों की निधि के समान सज्जनों को हम नमस्कार करते हैं ॥८॥

पाथोदः पद्यबन्धैर्विपुलरसभरं वर्षति ग्रन्थकर्त्ता
प्रेम्णां पूरैस्तु चेतःसर इह सुहृदां प्लाव्यते वेगवद्भिः ।
त्रुट्यन्ति स्वान्तबन्धाः पुनरसमगुणद्वेषिणां दुर्जनानां,
चित्रं भावज्ञनेत्रात् प्रणयरसवशान् निःसरत्यश्रुनीरम् ॥९॥

भावार्थ : ग्रन्थकर्त्तारूपी मेघ पद्यबन्धों से विपुल रससमूह को बरसाते हैं, और सत्परिणति वाले हृदयसरोवर को इस मेघवृष्टि द्वारा अत्यन्त तेजी से बहते हुए प्रेम के प्रवाहों से भर देते हैं। किन्तु गुणों के प्रति अत्यन्त द्वेष रखने वाले दुर्जनों के हृदयबन्ध टूट जाते हैं और तत्त्वज्ञ के नेत्र से प्रेमरस के वश अश्रुजल निकलता है, यही आश्चर्य है ॥९॥

उद्दामग्रन्थभावप्रथनभवयशः संचयः सत्कवीनां,
क्षीराब्धिर्मथ्यते यः सुहृदयविबुधैर्मेरुणा वर्णनेन ।

एतड्डिंडीरपिंडीभवति विधुरुचेर्मंडलं विप्रुषस्तास् ।
ताराकेलासशैलादय इह दधते वीचिविक्षोभलीलां ॥१०॥

भावार्थ : सत्कवियों के प्रौढ़ग्रन्थ के भावों को विस्तृत करने से उत्पन्न हुए यश के संचयरूप क्षीरसागर का विवेकी सहृदय पण्डितरूपी देवों द्वारा वर्णनरूप मेरु से मंथन किया जाता है, तब उसमें से पैदा हुआ फेन का पुंज चन्द्रमा की कान्ति के मंडल के समान है तथा अत्यन्त उछलती हुई उच्चारण-ध्वनिरूप बूँदें तारे बन गए, और कैलाशपर्वत आदि इस क्षीरसागर में उठती हुई तरंगों की लीला को धारण करते हैं ॥१०॥

काव्यं दृष्ट्वा कवीनां हृतममृतमिति स्वःसदां पानशंकी ।
खेदं धत्ते तु मूर्ध्ना मृदुतरहृदयः सज्जनो व्याधुतेन ।
ज्ञात्वा सर्वोपभोग्यं प्रसृमरमथ तत्कीर्त्तिपीयूषपूरं,
नित्यं रक्षापिधानानियतमतितरां मोदते च स्मितेन ॥११॥

भावार्थ : अतिकोमल हृदय वाले सज्जन पुरुष कवियों के काव्य देखकर 'इसने देवों के अमृत का हरण कर लिया' यह सोचकर पान से अशंकित होकर सिर धुन-धुनकर पछताता है । और उस काव्य के यशरूपी अमृत के संचय को सबके लिए उपभोग्य तथा प्रसरणशील जानकर सदा रक्षा और आच्छादन की अनियतता जानकर मुस्कराकर अत्यन्त हर्षित होता है ॥११॥

निष्पाद्य श्लोककुम्भं निपुणनयमृदा कुम्भकाराः कवीन्द्राः,
दार्ढ्यं चारोप्य तस्मिन् किमपि परिचयात् सत्परीक्षार्कभासाम्।
पक्वं कुर्वन्ति बाढं गुणहरणमतिप्रज्वलद्दोषदृष्टि-
ज्वालामालाकराले खलजनवचनाज्वालाजिह्वा निवेश्य ॥१२॥

भावार्थ : कुम्भकाररूपी कवीन्द्र निपुणनयरूपी मिट्टी से श्लोकरूपी घड़े बनाकर उसे सत्परीक्षणरूपी सूर्यकिरणों का सम्पर्क कराकर उनमें कुछ मजबूती लाकर गुणों को हरण करने वाली बुद्धि से दोषदृष्टिरूपी जाज्वल्यमान ज्वाला की मालाओं से विकराल दुर्जनपुरुष की जिह्वारूपी अग्नि-ज्वाला में डालकर उन्हें पक्के बनाते हैं ॥१२॥

इक्षुद्राक्षारसौघः कविजनवचनं दुर्जनास्याग्नियंत्रान् ।
नानार्थद्रव्ययोगात् समुपचितगुणे मद्यतां याति सद्यः ।
सन्तः पीत्वा यदुच्चैर्दधति हृदि मुदं घूर्णयन्त्यक्षियुग्मं, ।
स्वैरं हर्षप्रकर्षादपि च विदधते नृत्यगानप्रबन्धम् ॥१३॥

भावार्थ : कविजनों के वचनरूपी ईक्षु और अंगूर के रस का पुंज दुर्जन पुरुष के मुखरूपी अग्नियंत्र से विविध प्रकार के अर्थरूपी द्रव्यों के संयोग से गुणवृद्धि पाकर तत्काल मद्यरूप बन जाता है। उस मद्य का पान करके सत्पुरुष हृदय में अत्यन्त हर्षित होते हैं। वे दोनों आँखों को चपलतापूर्वक घुमाते हैं, और स्वच्छन्दतापूर्वक हर्षावेश में आकर नृत्य और गीत का प्रबन्ध भी करते हैं ॥१३॥

नव्योऽस्माकं प्रबन्धोऽप्यनणुगुणभृतां सज्जनानां प्रभावात् ।
विख्यातः स्यादितीमे हितकरणाविधौ प्रार्थनीया न किं नः ।
निष्णाता वा स्वतस्ते रविरूचय इवाम्भोरुहाणं गुणाना-
मुल्लासेऽपेक्षणीयो न खलु पररुचेः क्वापि तेषां स्वभावः ॥१४॥

भावार्थ : 'हमारी यह रचना नई होती हुई भी बड़े-बड़े गुणधारी सज्जनों के प्रभाव से प्रसिद्ध हो' क्या वे सज्जन हित करने की विधि में हमारे द्वारा प्रार्थनीय नहीं हैं ? अथवा कमलों को विकसित करने में सूर्यकिरणों की तरह गुणों का उल्लास (विकास) करने में वे सज्जन स्वयमेव विलक्षण हैं, क्योंकि उनका स्वभाव कदापि दूसरे की रुचि=इच्छा की अपेक्षा नहीं रखता ॥१४॥

यत्कीर्त्तिस्फूर्तिगानावहितसुरवधूवृन्दकोलाहलेन,
प्रक्षुब्धस्वर्गसिन्धोः पतितजलभरैः क्षालितः शैत्यमेति ।
अश्रान्तभ्रान्तकान्तग्रहगणकिरणौस्तापवान् स्वर्णशैलो
भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजयबुधाः सज्जनव्रात-धुर्याः ॥१५॥

भावार्थ : अविश्रान्त भ्रमण करते हुए मनोहर ग्रहगणों की किरणों से तपा हुआ सुमेरुपर्वत उन गुरुदेव की कीर्त्ति का स्फूर्तिपूर्वक गान करने में दत्तचित्त देवांगनाओं के झुण्ड के कोलाहल से प्रक्षुब्ध स्वर्गंगा से गिरते हुए जलप्रवाहों से धुलकर शीतलता को प्राप्त करता है, उन सज्जनों के समूह में अग्रगण्य नयविजय नामक पण्डित मुनिवर्य विराजमान हैं ॥१५॥

चक्रे प्रकरणमेतत् तत्पदसेवापरो यशोविजयः ।
अध्यात्मधृतरुचीनामिदमानन्दावहं भवतु ॥१६॥

भावार्थ : उन गुरुदेव की चरणसेवा करने में तत्पर यशोविजय (उपाध्याय) ने यह प्रकरण (अध्यात्मसार) रचा (बनाया) है। यह प्रकरण अध्यात्म में रुचि रखने वाले पुरुषों के लिए आनन्ददायक हो ॥१६॥

॥ इति सज्जनस्तुतिः, इति प्रशस्तिश्च ॥

इतिश्री महोपाध्यायश्रीकल्यणविजयगणिशिष्य-मुख्यपण्डितश्री लाभविजयगणिशिष्य-मुख्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्य- मुख्यपण्डित-श्रीनयविजयगणि-चरणकमलचंचरीकेण, पण्डितश्री-पद्मविजयगणि-सहोदरेण पण्डितश्रीयशोविजयेन विरचितेऽध्यात्मसारप्रकरणे सप्तमः प्रबंधः ॥

• • •

अहो ! श्रुतम् स्वाध्याय संग्रह में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी ग्रंथो का विवरण

(१) जीवविचार - नवतत्त्व

(२) दंडक - लघु संग्रहणी

(३) भाष्यत्रयम् - चैत्यवंदन / गुरुवंदन / पच्चखाण भाष्य

(४) कर्मग्रंथ १-२-३

(५) ज्ञानसार

(६) उपदेशमाला

(७) अध्यात्मसार

(८) शांतसुधारस

(९) प्रशमरति

(१०) वैराग्यशतक - इन्द्रिय पराजय शतक

(११) अध्यात्मकल्पद्रुम

(१२) अष्टक प्रकरण

(१३) तत्त्वार्थसूत्र

(१४) वीतरागस्तोत्र

(१५) बृहद्संग्रहणी

(१६) लघुक्षेत्रसमास

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार परिचय

(1) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् 2063 में निर्मित...

(2) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये 2500 प्रताकार ग्रंथ व 21000 से ज्यादा पुस्तको के संग्रह मे से 33000 से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(3) श्रुतरक्षा के लिये 45 हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित 80000 हस्तप्रतो में से 1800 से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(4) जीर्ण और प्रायः अप्राप्य 222 मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुनः प्रकाशित करके ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(5) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के 46 अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(6) ई–लायब्रेरी के अंतर्गत 9000 से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह PDF उपलब्ध है, जिस में से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(7) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(8) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(9) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(10) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रसार ।

(11) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन ।

(12) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के 60 पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन ।

● ● ●

श्री पंच महामंगल श्रुतस्कन्ध

श्री नमस्कार महामंत्र (अतिप्राचिन)

𑀦𑀫𑁄 𑀅𑀭𑀺𑀳𑀁𑀢𑀸𑀡𑀁
𑀦𑀫𑁄 𑀲𑀺𑀤𑁆𑀥𑀸𑀡𑀁
𑀦𑀫𑁄 𑀆𑀬𑀭𑀺𑀬𑀸𑀡𑀁
𑀦𑀫𑁄 𑀉𑀯𑀚𑁆𑀛𑀸𑀬𑀸𑀡𑀁
𑀦𑀫𑁄 𑀮𑁄𑀏 𑀲𑀯𑁆𑀯𑀲𑀸𑀳𑀽𑀡𑀁
𑀏𑀲𑁄 𑀧𑀁𑀘 𑀦𑀫𑀼𑀓𑁆𑀓𑀸𑀭𑁄
𑀲𑀯𑁆𑀯 𑀧𑀸𑀯𑀧𑁆𑀧𑀡𑀸𑀲𑀡𑁄
𑀫𑀁𑀕𑀮𑀸𑀡𑀁 𑀘 𑀲𑀯𑁆𑀯𑁂𑀲𑀺𑀁
𑀧𑀠𑀫𑀁 𑀳𑀯𑀇 𑀫𑀁𑀕𑀮𑀁